सलीब पर

सलीब पर

दीप्ति खण्डेलवाल

अपने पिताश्री बाबूजी श्री मदनगोपाल जी को जिनसे मिली 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की चेतना मेरी शिराओं में रक्त बनकर संघर्ष-रत है। उनकी गोद की अशेष स्मृति सहित—

—दीप्ति

श्रेय

भाई श्री कृष्णस्वरूप जी को

सलीब पर

'सलीब पर' के 'बाबूजी'—
'शीर्षकहीन' व 'विघटन' के आज के आम आदमी का
प्रतिनिधित्व करते कथा-नायक
'कोशिश में' का प्याज बेचता, जाहिल, गवार 'करीमबख्श'''
'अभिशप्ता' की अति सुघी नारी 'मानो दी'''' 'बीच का आदमी'
के अपने छोटे कद से ऊपर उठते 'जोशी जी'''' 'एकात्म' के प्रत्यक्ष
में होश खो बैठे, किन्तु अप्रत्यक्ष में बहुत होश के कारण ही आत्म-
घात-सा करते 'ननदोई जी'''' अगो की उमरकैद झेलते 'चार दिन
और' के पचास वर्षीय 'लाला बाबू' से लेकर 'कैद' के आठ वर्षीय
अनूप तक'''
या फिर—'स्वयंवर' के अति स्पन्दित प्रेमी युगल, 'राधा और
मोहन—'
जो 'मृत्यु' के 'आलिंगन-पाश' में ही जीवन की सीमाओं के परे
एक हो सके में लेकर—
जिन्दगी की चटकती धूप में, निस्पन्द हो उठे,
'दो पल की छाह' ढूढते 'एन्थोनी एवं अनामा'''तक'''
और अन्त में 'आत्मरचना' की 'मैं'—

सभी तो किसी न किसी 'सूली पर' टंगे हैं—
ईसा के समान रक्त-रंजित, लहूलुहान, कीलो से ठके,
पत्थर खाते'''अपनी-अपनी परिधि में
अकेले जलते'''

अपने-अपने अन्धकार से अकेले जूझते…
अपने-अपने हिस्से का ज़हर अकेले पीते…
अपनी-अपनी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, स्थूल या सूक्ष्म…
किसी न किसी 'त्रासदी' के 'सलीब पर'
स्वयं चढ़े या चढ़ा दिए गए…।

न्यू रीडर्स क्वार्टर नं० १९
उस्मानिया यूनिवर्सिटी
हैदराबाद—७ (आ० प्र०)

—दीप्ति खण्डेलवाल

क्रम

आत्म-रचना

कहानी बहुत बड़ी है, बहुत छोटी भी, जैसी कि जिन्दगी होती है। लम्हों, क्षणों में जी जाती जिन्दगी फैलकर दिनों, वर्षों का विस्तार पाती है···और फिर सिमटकर शून्य-भर रह जाती है।

याद आता है, एक अबोध लड़की थी। खरे गोरे रंग। बड़ी उज्ज्वल आँखों और रेशमी, काले बालों वाली। उस अबोध लड़की को दो आदतें पड़ गई थीं—एक, अंगूठा चूसने की, दो—आकाश देखने की! और जब वह अंगूठा चूसते-चूसते, आकाश को देखते, चलने लगती, तो गिर पड़ती थी। गिर पड़ती, तो चोट लगती थी। चोट लगती, तो दर्द होता था। आकाश को देखने की परिणति में उसे दर्द मिलता था। लेकिन वह थी कि आकाश को देखते-देखते चलना छोड़ नहीं सकती थी। और चोट थी कि बार-बार लगती थी। और दर्द था कि बार-बार मिलता था। वह अबोध लड़की आज चोटों और दर्द से भरपूर है। किन्तु आकाश को देखना वह आज भी नहीं छोड़ सकी है।

आकाश उसके लिए पर्याय है विस्तार का—उन्मुक्त विस्तार का··· जिसमें उड़ जाने के लिए वह होश सभालने के बाद से सदा आतुर रही है। आकाश की नीलाभ उज्ज्वलता उसके लिए पर्याय रही है उस सौंदर्य का, जिसे उसने सांसों में उतार लेना चाहा है···आकाश पर क्षण-क्षण बिखरते रंग उसकी चेतना में रंग भरते रहे हैं···और धरती पर जकड़ी पड़ी वह आकाश में उड़ जाने के लिए संघर्ष करती रह गई है···क्योंकि वह पंखहीन है। पंखहीनता उसकी नियति है···आकाश उसकी कामना— इस नियति और कामना के बीच झूलती उसकी जिन्दगी शायद एक शून्य है···शायद यह शून्य वैसा ही है, जैसा आकाश होता है—बहुत कुछ

और कुछ भी नहीं।

आज आकाश को देखने के साथ एक आदत और जुड़ गई है। अंगूठा चूसना वह छोड़ चुकी है, तो आकाश को देखने के साथ कुछ और भी होना चाहिए न! ऐसा कुछ, जो उसके पार्थिव अस्तित्व को धरती से जोड़े रख सके। तो वह अगरबत्ती से जुड़ गई है, अंगूठा चूसने की वह अबोधता, आज जीवन और जगत् के बोधों से, और उससे भी अधिक दर्द और चोटों के यथार्थ से इतनी बोझिल हो गई है कि यदि अब पंख मिल भी जाएं तो भी उड़ नहीं सकेगी, आकाश को देखते देखते थककर पंखहीनता के क्षण-क्षण सालते यथार्थ को झेलती वह बोधमयी अब अपने कमरे के एकांत में अगरबत्ती जला लेती है···फिर उस घुटते एकांत को देर तक कड़वे घूंटों की तरह पीती वह उस धीरे-धीरे जलती, सुगंध बिखेरती अगरबत्ती को एकटक देखती रहती है। अगरबत्ती उसे अपने अस्तित्व का पर्याय लगती है।

जलना दीप्ति की नियति रही है, आग को आलोक बनाना उसकी प्रकृति···और इन दोनों का द्वंद्व उसकी जिन्दगी। उसे याद नहीं, कब से उसे अपने भीतर कुछ 'उज्ज्वल' होने की चेतना रही है। यह 'उज्ज्वल' उसका जीवन-दर्शन रहा है। यह 'उज्ज्वल' उसकी विडंबना भी रहा है।

सूरज में आग है तो वह एक प्रकाशपुंज बन गया है, जो ऊष्मा देता है, जीवन देता है, आलोक देता है। दीपक उस आग को अपने लघु परिवेश में आत्मसात् कर लेता है, तो निविड़ अंधकार से जूझता, जलता, 'तमसोमा ज्योतिर्गमय'···को जीने लगता है। सूरज का तपना और दीपक का जलना सार्थक होता है। किन्तु अगरबत्ती का तपना या जलना एक सुगंध की क्षणिक परिणति के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। जलती अगरबत्ती भी है···जलने की दाह को झेलती राख होती जाती है···किंतु एक हलकी-सी सुगंध के अतिरिक्त अपनी दाह का कोई प्रमाण उसके पास नहीं होता। और वह सुगंध भी क्षणिक होती है। और सुगंध को न छुआ जा सकता है, न देखा, केवल महसूस किया जा सकता है। वह भी तब, जब बहुत पास से उसे सांसों में भरा जा सके। किन्तु किसीका पार्थिव

अस्तित्व यदि अगरबत्ती-सा हो उठे, तो सूरज और दीपक की तुलना में वह नगण्य होकर रह जाता है। सुगंध अपने-आपमें एक सूक्ष्म उपलब्धि हो सकती है, किन्तु आग और आलोक की तुलना में वह कहीं नहीं ठहरती।

उसने सूरज-सा प्रकाशपुंज बनना चाहा था कि जीवन दे सके, आलोक दे सके। उसने दीपक-सा जलना चाहा था कि अंधकार से जूझ सके··· आग को उसने आत्मसात् कर लिया था—'तमसोमा ज्योतिर्गमय' उसका जीवन-दर्शन बन गया था, किन्तु इनकी परिणति में वह केवल एक अगर-बत्ती बनकर रह गई है। हां, उसके भीतर वह आग अभी भी भड़क रही है, जिसे वह आलोक बनाना चाहती है और इस आग को आलोक बनाने के प्रयास में वह जलने की शर्त भी पूरी कर रही है।

पिता उसके संदर्भ में दो घटनाओं का जिक्र करते हैं। पहली घटना उसकी देह की है। बहुत छोटी थी वह, शायद पूरे एक वर्ष की भी नहीं। किसी धार्मिक उपलक्ष्य में पिता नदी में स्नान कर रहे थे, तो सोचा, एक गोता उस नन्ही जान को भी लगवा दें। पिता ने उसे एक बार डुबोकर निकाला ही था कि वह न रोई, न चीखी, बस नीली पड़ गई। पिता दुखी और चकित, एक साथ थे। न पानी इतना ठंडा था कि एक वर्ष की बच्ची की देह नीली पड़ जाए, न वह बच्ची ही देखने में इतनी दुर्बल थी। लेकिन नीली वह पड़ गई थी।

और फिर उसका नीला पड़ना चलता रहा। तीन वर्ष की आयु तक उसे सात बार चेचक निकल चुकी थी। छह वर्ष की उम्र में उसे डिपथी-रिया हुआ था। नौ वर्ष की अवस्था में वह खूनी पेचिश के कारण मरते-मरते बची थी। और सोलह वर्ष का कैलेंडर अभी बदला नहीं गया था कि वह टॉयफॉयड के आक्रमण से जो शय्या पर गिरी, तो आज तक नहीं उठ सकी है। टॉयफॉयड ने उसे ऐसा क्षत-विक्षत किया कि उसका अंग-अंग पंगु-सा होकर रह गया। सोलहवें वर्ष के वसंत के बीच खड़ी वह देखती रह गई कि उसके चारों ओर पतझड़ की हवा चलने लगी है··· उसकी देह का वसंत पथरा गया था।

आज अभी जब उसकी पथराई देह तीन हज़ार से भी अधिक इंजे-

वचनों से कोंची जा चुकी है और वह अनगिन दवा-प्रयोगों की आराधी से गुजर चुकी है, उसकी देह का नीला पड़ना जारी है। दोष उन हवाओं का नहीं, जिनमें वह सांस लेती है, दोष शायद उन पंचतत्वों का है, जिनसे उसका निर्माण हुआ है। और देह की यह अस्वस्थता इतनी दीर्घ हो गई है कि अब मन भी रोगी हो उठा है। देह की यातना मन की यातना बनी जा रही है…जिस देह में उसे रहना है, वह देह उससे पग-पग पर विद्रोह किए रहती है—और उसका सब कुछ विरूप होकर रह जाता है। उसकी आत्मा के रंग उसके जीवन में केवल इसलिए नहीं उतर सके कि बीच में उसकी चिर-अस्वस्थता की दीवार खड़ी हो गई थी…आज भी जब वह लहूलुहान है, पराजित है, आंसुओं से अधिक अपने ही रक्त से भीगी हुई है, तो भी वह इस दीवार पर अपनी कोमल दुर्बल हथेलियों से निरंतर प्रहार कर रही है…और, और अधिक लहू-लुहान हुई जा रही है। यह दीवार शायद नहीं, निश्चित रूप से उसकी नियति है…और नियति से कोई जूझ भले ही ले, जीत नहीं सकता।

अगरबत्ती जलकर बुझ जाती है और उसकी सुगंध भी विलीन हो जाती है तो वह उठकर फिर खिड़की खोल लेती है और देखने लगती है—आकाश के उस अंतहीन विस्तार को, उस नीलाभ उज्ज्वलता को, उन बिखरते-मिटते रंगों को, जिन्हें पंखों से तौल लेने का सपना कभी उसका था…आज पंखहीनता उसका यथार्थ है!

दूसरी घटना उसकी चेतना की है। पिता बताते हैं, उसके मामा का विवाह था। बारात निकल रही थी। उस बारात में रेशमी फ्रॉक हने, मोटर में बैठी और शायद अंगूठा चूसती वह भी थी कि दूसरी र से एक अर्थी गुजरी। शहनाइयों के स्वरों से 'राम नाम सत्य है' बोल टकरा गए। उसके मुंह से अंगूठा निकल गया—'एक तरफ बारात रही है, दूसरी तरफ कोई मरकर जा रहा है, शायद यही जिन्दगी ' उसने साफ-साफ कहा। उसकी अबोध आंखें किसी दार्शनिक बोध ल गई थीं। पिता ने उसे खींचकर सटा लिया था। वह उसे फिर त दिखाने लगे थे कि दार्शनिक बोध से फैल गई उसकी आंखें त्य में सिमट जाएं। वह डर गए थे कि इतनी छोटी लड़की ऐसी

बड़ी बात क्यों कर रही है ! वह जानते थे कि बड़ी बातें करने वाले छोटे बच्चे संसार के लिए चुनौती बन जाते हैं और संसार चुनौती बनने वालों के बुत पीछे बनाता है, पहले उन्हें सूली पर चढ़ाता है। शायद पिता समझ गए थे कि उनकी बेटी को भी सूली पर चढ़ाया जाएगा। पिता का अनुमान गलत नहीं निकला, उनकी बेटी को सूली ही मिली है।

तीसरी बात जो पिता को नहीं, लड़की को याद है, वह है, पिता का उसे कहानियां सुनाना। पिता उसे अनेक कहानियां सुनाते, उसे केवल एक याद रह जाती—झांसी की रानी की। दांतों से घोड़े की लगाम पकड़े, दोनों हाथों से तलवार चलाती, रक्त से नहाती, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करती, वह झांसी की रानी उस कहानी सुनने वाली लड़की की आंखों में इतनी मूर्त हो उठती कि वह चीख पड़ती—मैं भी झांसी की रानी बनूंगी। अनेक कहानियों के अनेक पात्रों में से उसने झांसी की रानी को ही क्यों अपना आदर्श चुना, यह वह तब नहीं बता सकती थी, अब बता सकती है—अब जब वह एक लेखिका बन चुकी है, उसके हाथ में तलवार नहीं, लेखनी है, तो इस लेखनी से वह तलवार का ही काम लेना चाहती है। यानी वह, वह सब काट फेंकना चाहती है जो अन्याय है, गुलामी है, गलत है ! अर्थात् वह सत्य को बदलते संदर्भों के व्यापक परिवेश में आंक लेना चाहती है, फिर चाहे वह लेखन में हो, चाहे जीवन में। सत्य को वह रूढ़ अर्थों में नहीं, चेतना के जीवंत धरातल पर, सूक्ष्म और स्थूल दोनों स्तरों पर, जी लेना चाहती है। आज भी'''अब भी'''किन्तु लेखन में चाहे वह किसी सत्य को पा भी सकी हो, जीवन में सब कुछ झूठ होकर रह गया है। और जिसे सत्य की चेतना और झूठ का धरातल एक साथ मिला हो, उसकी सांसें एक साथ जीती-मरती रह जाती हैं।

सत्रहवें वर्ष में एक ओर उसकी कुंवारी, कोमल, सुंदर देह में वसंत पसरा रहा था, दूसरी ओर उसके आंगन में शहनाइयां बजी थीं। उसके मेंहदी-रंगे, लाल हाथों किन्तु रक्तहीनता से सफेद पड़ी कलाइयों को किसीने थाम लिया था। उसे थाम लेने वाले हाथ जिस राम के थे, वह निश्चय ही अभिराम थे—बिल्कुल सपनों के राजकुमार जैसे ! एक ओर वह थरथरा रही थी कि उसे सपनों का राजकुमार मिला था। दूसरी

श्रोर वह कांप भी रही थी कि सपनों के राजकुमार जिस महल में रहते थे, वह जीर्ण-शीर्ण था, पुराना था, मुतहा था। उसे फिर दो विरोधी तत्त्व एक साथ मिल गए थे। सपनों के राजकुमार का चिर इच्छित, चिर काम्य साथ श्रोर साथ-साथ रहने के लिए मुतहा महल। स्पष्ट कर दूं, वह मुतहा महल रूढ़ियों का था, श्रंधविश्वासों का···सत्य वहां बंदी था।

उस कोमल श्रोर दुर्बल देह वाली युवती को, जिसके मन में प्रतिपल किसी सत्य श्रोर सुन्दर की चेतना फड़फड़ाया करती थी, उस मुतहे महल के भूत हांट करने लगे। सपनों के राजकुमार उन भूतों के श्रादी थे, वह उन्हें सहज स्वीकार कर चुके थे, किन्तु वह युवती धीरे-धीरे उन प्रेत-छायाश्रों के बीच होश खोने लगी थी। यदि उसके पैरों में शक्ति होती तो वह निश्चय ही उस महल से भाग निकलती···उस महल में सत्य के साथ वह युवती भी बंदिनी बना दी गई थी।

सीता का श्रादर्श भी उस युवती का चिर इच्छित, चिर काम्य श्रादर्श था। तन-मन में उजले कमलों की शुभ्रता श्रोर सुगंध लिए सीता एकमात्र राम की थी···किन्तु इतिहास की वह कोमल, उज्ज्वल सीता दुर्बल नहीं थी। उसे कर्त्तव्य के नाम पर राम के साथ वन के कंटीले-कंकरीले रास्ते पर चलना श्राता था। उसे राम के रामत्व के साथ रावण के राक्षसत्व का सामना करना भी श्राता था। उसे श्रग्नि-परीक्षा देना भी श्राता था···किन्तु इन सबके पश्चात् भी जो श्रस्वीकार की दुर्वह त्रासदी से खंड-खंड होती भूमि में समा गयी थी···श्रोर भूमि में समा जाना भी हर सीता की नियति होती है।

उस युवती को राम मिल गए थे श्रोर वह सीता बन जाना चाहती थी। एक स्वतंत्र श्रस्तित्व वाली सीता, जो सत्य को उसकी जड़ता में नहीं, चेतना में जीना चाहती थी। श्रोर फिर, एक श्रोर उसकी सत्य की चेतना थी, दूसरी श्रोर रोगी-देह में श्रचेत होता उसका पार्थिव श्रस्तित्व था···वह राम की श्रनुगामिनी नहीं, सहगामिनी बनना चाहती थी, किन्तु केवल बोझ बनकर रह गई थी। फिर राम की प्रशस्ति में कसीदे पढ़े गए श्रोर निर्दोष सीता बोझ बनकर जीने के कारण श्रपराधिनी बनकर रह गई।

और, यद्यपि अग्नि-परीक्षाओं का साहस उसमें भी था...वह अग्नि-परीक्षाएं देती भी रही...फिर भी उसके राम भी शत-प्रतिशत राम थे ! सीता के लिए रावण से युद्ध करने वाले योद्धा राम, लोकापवाद जैसी हलकी बातों के डर से सीता का परित्याग करने वाले कायर राम भी थे। दो विरोधी राम दो ओर थे और बीच में अग्नि-परीक्षा देती वह सीता थी, अर्थात् वह युवती थी, जो केवल नियति के कारण अवश हो-कर रह गई थी, अन्यथा कदाचित् जीवन में वह एक नई रामायण लिख देती। तब वह कदाचित् राम के रामत्व को एक नई परिभाषा देती, अपने सीतात्व को भी। किन्तु, ऐसा नहीं हुआ, हो नहीं सका, हुआ केवल यह है कि राम का अभिराम साहचर्य पाकर भी एक दुर्वह त्रासदी उसकी नियति रही है...वह खंड-खंड भी हो चुकी है...कदाचित् अब केवल भूमि में समा जाना शेष है।

आज भी वह सोचती है कि सत्य को जीने की, सुंदर को पाने की अपनी जिद वह छोड़ क्यों नहीं देती ? क्यों नहीं बाहर और भीतर दो स्तरों पर जीना सीख लेती ? क्यों नहीं हार मान लेती ? किन्तु सारी स्थूल पराजयों के नेपथ्य में कहीं कोई संभावित जय का सूक्ष्म स्वर है, जिसे अपने बहुत भीतर केवल वह सुन पाती है...यह स्वर बहुत क्षीण हो चुका है, फिर भी कहीं शेष है...जिस क्षण यह स्वर नहीं होगा, वह भी नहीं होगी।

न, आप गलत न समझें। न इस सीता का परित्याग हुआ है, न होगा। स्थूल स्तर पर वे सदा साथ रहेंगे—किन्तु नियति के क्रूर बाण से विद्ध क्रौंच-युगल के समान मृत्यु के पलों में भी मिलन की चिर कामना चंचु में लिए...हां, रस से भरे पात्र और कांप-कांप जाने वाले हाथ भी उसे एक साथ मिले हैं...रस की तृप्ति केवल रस की प्राप्ति नहीं होती ...उस रस का ओठों से प्राणों तक उतर जाना होता है...! और इस अर्थ में उसे रस कहां मिला है...मिले हैं सूखते ओठ और चटखते प्राण ...जीवन-भर अतृप्ति का अभिशाप झेला है उसने...पल-पल रस का विद्रूप सहा है उसने...और कदाचित् उसने रस के पात्र बांटे भी हैं, किन्तु स्वयं प्यासी रही आई है। स्थूल स्तर पर साहचर्य मिला है उसे,

किन्तु सूक्ष्म स्तर पर वह एकाकिनी है—पंखहीन और एकाकिनी। यह एकाकपीन जैसे एक अन्तहीन भटकन है—भटकन, जो किसी भी तलाश की शर्त होती है। यह पंखहीनता जैसे एक चिरंतन दर्द है—दर्द, जो किसी भी रचनात्मकता की शर्त होता है। हां, दर्द का भी एक दर्शन होता है···दर्द आत्मा का संस्कार कर देता है···और वह अपने दर्द के दर्शन में जीना सीख चुकी है—दर्द उसकी आत्मा का संस्कार भी कर चुका है।

तो सत्य और सुन्दर की चेतना से स्पंदित रोम-रोम लिए उसका यथार्थ यह है कि वह भयानक अनिद्रा की रोगिणी है···बीस वर्षों से सेडेटिव्स ले रही है···नारी-देह के रोग उस घेरे रहे हैं···उसका अंग-अंग कष्टों से जकड़ा रहा है···घोर रक्ताल्पता के कारण जीना उसके लिए कठिन रहा है और वह इतना कम खा-पी पाती है कि उसे फल सूंघने वाली राजकुमारी की संज्ञा दी जा सकती है···और सब कुछ तो वह झेल लेती है, किन्तु अनिद्रा के कारण अंतहीन बनी रातें उससे काटे नहीं कटतीं···करवटें बदलती वह तड़पती होती है···फिर कोई दिन उसके लिए नया नहीं होता···केवल वह उस निरर्थक छटपटाहट की पुनरावृत्ति-मात्र होता है, जिसे जाने कब से वह झेल रही है···और जाने कब तक झेलती रहेगी···थकी रात का सहारा लेकर खड़ा होता उसका दिन लड़खड़ाता होता है···और लड़खड़ाते दिन से गुजरकर उसकी रात और थक जाती है···रात के सन्नाटों में शय्या पर अकेली करवटें बदलती वह केवल सोचती होती है—

किसी की शवे वस्ल सोते कटे है
किसी की शवे हिज्र रोते कटे है
ये कैसी शव है या इलाही
न सोते कटे है न रोते कटे है!

कितनी सच हो गई हैं ये पंक्तियां उसके संदर्भ में! उसकी अपनी देह ही उसका 'वाटरलू' बन गई। एक दुर्बल देह में बन्दी एक प्रबल मन हारता रहा।

बार-बार याद आता है, उसके अंग्रेज़ी के ट्यूटर, जो उसकी उड़ान भरने की क्षमता से बहुत आशा रखते थे, कहते रह गए थे—सांग

वंडं ! ह्वाई हैस्ट दाउ ए ब्रोकन विंग !

अपने आत्मपरिचय में उसने लिखा है :

एक पराजित नारी-देह में बंदी एक अपराजेय मन है, जिसके संघर्ष भी इसलिए अमूर्त रहे कि उसकी आत्मा के रंग उसके जीवन में नहीं उतर सके···दीप्ति केवल इसलिए दो टुकड़ों में बंटकर रह गई कि बीच में उसकी चिर रुग्णता की दीवार खड़ी हो गयी थी···फिर नियति से दो टुकड़ों में बंटा यह पंखहीन अस्तित्व ज़िन्दगी की दीवारों पर सिर पटकता रहा···किन्तु खंडित आकाश को झेल जाने का साहस उसमें था, कांटों-भरी धरती पर चलकर लहू-लुहान होने का भी···और खंडित स्तरों पर चलती वह बाहर से भीतर की ओर लौटती गई··· दीप्ति की कहानियां इसी बाहर से भीतर की ओर की यात्रा की कथाएं हैं···

और खंडित स्तरों पर चलती, बाहर से भीतर की ओर की यह यात्रा दीप्ति का अति त्रासद भोगा हुआ यथार्थ रहा है। स्थूल स्तर पर यह निरन्तर हार रही थी···सूक्ष्म स्तर पर निरन्तर मर रही थी···उसका यथार्थ इतना विद्रूप था कि चेतना के स्तर पर सुंदर एक विद्रूप बनकर रह गया···फिर इसी हार, इसी मृत्यु, इसी विद्रूप के बीच उसके लेखन ने जन्म लिया···जैसे उसे लड़खड़ाते पैरों पर खड़े होने के लिए एक अपनी ज़मीन मिल गई···जैसे उसे सारे अस्वीकारों के बीच एक स्वीकार मिल गया।

मानवीय संवेदनाओं के प्रति व्यापक धरातल पर खड़ी वह कहती है —लेखक केवल इस अर्थ में एक असामान्य प्राणी होता है कि वह मानसिक धरातल पर, विभिन्न कोणों से, अनेक रूपों में जी सकता है। ये रूप, ये कोण, उसके अपने व्यक्तिगत जीवन के ही हों, ऐसा कहां आवश्यक है ? हर भोगा हुआ यथार्थ स्थूल स्तर पर उसका हो, न हो, संवेदना के स्तर पर उसका अपना होता है। मृत्यु को जानने के लिए मरना जरूरी नहीं होता।

संवेदनाओं के धरातल पर खड़ी वह अपने पात्रों के साथ जीती-मरती होती है···यथार्थ को हर कोण से चित्रित करती होती है···

किन्तु उन क्षणों वह लेखिका नहीं, स्वयं पात्र होती है, चित्रकार नहीं, स्वयं चित्र होती है। किसी भी मानवीय स्थिति से, किसी भी दर्द से उसका तादात्म्य इतना गहरा है कि वह तादात्म्य किसी भी कहानी को उसका भोगा हुआ यथार्थ बना जाता है···

अपने लेखकीय वक्तव्य में उसने कहा है—आदमी कुत्ता हो सकता है, लेकिन आदमी केवल कुत्ता ही नहीं है। उसका यह कथन उसके समस्त लेखन में प्रतिध्वनित एक सूक्ष्म स्वर है। आदमी से बहुत प्यार है उसे। उसने साफ-साफ देखा है—यदि देवत्व एक भ्रम है, तो पशुत्व भी सच नहीं। आदमी तो इन दोनों के बीच कहीं होता है। अपनी कहानियों में वह इसी बीच के आदमी को तलाश करती होती है···इस बीच के आदमी से अतिशय प्यार है उसे!

पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक की कोई रूढ़िगत मान्यता को वह नहीं मानती, किन्तु प्रकाश में उसकी आस्था है और प्रकाश और अन्धकार के भेद को वह दृढ़ता से स्वीकारती है—ज़िद की हद तक।

कला के संदर्भ में किसी पश्चिमी कलाविद् का यह कथन उसकी कला-चेतना पर अंकित होकर रह गया है—सेब के चित्रण में सेब के चित्रण के साथ कुछ और भी होना चाहिए—यही 'कुछ और' कला है। इस कथन में वह अपना लेखकीय अनुभव और जोड़ देती है—यही 'कुछ और' तो वह कुछ है जो संवेदनाओं के माध्यम से कला की सृष्टि करता है। वस्तु की प्रामाणिकता और शिल्प के सौष्ठव को 'यही कुछ और' जीवन्तता, व्यापकता और अर्थ देता है। संवेदनाओं की तादात्म्य में परिणति जितनी तीव्र और व्यापक होगी, रचना उतनी ही सार्थक होगी।

प्रयोग के लिए प्रयोग में उसका विश्वास नहीं है। प्रयोग कला के लिए और कला जीवन के लिए—उसका विश्वास भी है, उसका प्रयास भी। उसके अनुसार रचनाकार को प्रतिबद्ध होना चाहिए—युग के प्रति, शाश्वत मूल्यों के प्रति, एवं अपनी कला-चेतना के प्रति। उसकी पसलियों से एक प्रश्न बार-बार टकराता है—क्या इन प्रतिबद्धताओं के प्रति मैं ईमानदार हूं? या मैंने भी रचनाधर्मिता के धर्म को झुठलाया है? क्या दिशा की खोज में मैं भी दिग्भ्रमित हूं?

कागज पर कलम से, कुछ सिलसिले से, लिखना वह सन् ७० के आसपास ही शुरू कर सकी।

'क्षितिज', 'मूल्य', 'विषपायी', 'हव्वा', 'एक पारो पुरवैया', 'परिणति', एवं 'दोष-अशेष' उसकी चर्चित रचनाएं रही हैं। 'क्षितिज' में दंपती की चिर ट्रेजेडी को दीप्ति ने अपने समकालीन 'अन्दाजे बयां' में कह दिया था। उसने बार-बार सुना है—यथार्थ की बेझिझक एवं ईमानदार अभिव्यक्ति के साथ मानवीय संवेदनाओं को गहरे स्पर्श करने तथा झंकृत करने की अप्रतिम सामर्थ्य आपमें है···

किन्तु यदि इस अप्रतिम सामर्थ्य की चर्चा में आप दीप्ति से जानना चाहें कि उस सामर्थ्य का कितना गर्व है उसे? तो वह अचकचा जाएगी, फिर धीरे से कहेगी—सामने अनन्त पारावार है और मेरी अंजुनि में केवल कुछ बूदें···इन बूदों का गर्व मुझे क्या होगा।

'हव्वा' एवं 'विषपायी' उसकी सेक्स-स्नात रचनाएं हैं, यह स्वीकार करती है। फिर सेक्स को लेकर पाठकों के प्रश्न के उत्तर में एक प्रश्न ही और कर देती है—'हव्वा' एवं 'विषपायी' सेक्स-स्नात रचनाएं हैं···किन्तु क्या इन रचनाओं में सुगन्ध एवं उजाले का वह सस्पर्श नहीं, जो इनमें वर्णित निर्मम, नग्न यथार्थ के सामयिक सत्य को सत्य की शाश्वतता से सपृक्त कर दे?

'विषपायी' के संदर्भ में उसने अपने एक जबरदस्त प्रशंसक को बधाइयों के उत्तर में लिखा था—रचना इसलिए बधाई के योग्य नहीं है कि इसमें एक लेखिका ने 'होमोसेक्सुएलिटी' पर कलम चलाई है, वरन् इसलिए कि विषपायी सुगन्ध और उजाले के लिए छटपटाती मानवीय चेतना की संघर्ष-कथा है! ये सुगन्ध और उजाले दीप्ति की समग्र सेवकीय चेतना एवं रचनाधर्मिता के लक्ष्य हैं।

चेतना के स्तर पर दीप्ति में गौतम की करुणा थरथराया करती है, कि वह बाहें पसारकर सारी पीड़ित मानवता को अपनी करुणा में समेट ले···सुकरात की तरह वह जहर का प्याला पीकर मरने को तत्पर रहती है, कि कुछ अमर दे सके! और ईसा की तरह वह आमर्दियों को सूली पर चढ़ा ही करती है···वह बहुत आहत है, बहुत क्षत-विक्षत भी

…पता नहीं, उसका बुत बनाया जाएगा या समय अपनी निर्मम ठोकरें मारकर उसे किसी अतल गर्त्त में ढकेल देगा…किन्तु क्या एक ईमानदार संघर्ष अपने-आपमें एक उपलब्धि भी नहीं होता ? तो, दीप्ति का संघर्ष ही उसकी एकमात्र उपलब्धि है।

हां, लेखकीय संदर्भ में एक बात बताना वह भूली जा रही है कि उसका मूल स्वर कवि का था…यह कवि वर्षों दीप्ति की चेतना को झंकृत करता रहा। उसके काव्य के विषय होते थे—प्रेम और सौन्दर्य एवं प्रकृति और दर्शन। एक समय था कि उसकी कविताएं प्रकाशित हुई थीं, सराही भी गई थीं। किन्तु फिर, जीवन की उठा-पटक ने उसकी लेखनी को कल्पना के कोमल आकाश से उतारकर यथार्थ की कांटों-भरी धरती पर ला खड़ा किया। और फिर कहानी घावों के रिसते आंसू पोंछने लगी। अब, कविता दीप्ति को एकदम छद्म लगती है। प्रेम और सौन्दर्य के अर्थ उसके निकट बदल गए हैं…प्रेम और सौन्दर्य के स्थान पर जब यथार्थ का कटु और कुरूप उसके रूबरू खड़ा हो गया तो उसने घबराकर आंखें नहीं बन्द कीं, उस रूबरू खड़े यथार्थ को भी अपना लिया…फिर वह प्रेम और सौन्दर्य के कैनवस पर कटु और कुरूप के चित्र खींचने लगी।

वह केवल दो सौ के लगभग कविताएं और साठ के लगभग कहानियां लिख सकी है। कविताएं दराज में बन्द हैं। कहानियां लगभग सभी प्रकाशित हो चुकी हैं। और अब वह चाहे भी तो कविता नहीं लिख पाती, कहानियां न चाहने पर भी लिखती चली जाती है…शायद इसलिए कि जिन्दगी कविता नहीं होती, कहानी होती है। अपने कथाकार-रूप से दीप्ति को बहुत मोह है…शायद इसलिए कि यह रूप उसकी ज़ख्म खाती जिजीविषा का एकमात्र प्रमाण है।

लेखन उसके सिर पर एक जुनून की तरह सवार होता है…एक ज्वार की तरह सारे बांध तोड़कर वह निकलता है…एक आग की तरह भड़क उठता है…उसकी हर कहानी केवल एक या दो सिटिंग का परिणाम है। और जब वह लिखती होती है, तब उसे अपना भी होश नहीं होता…रचना-क्षण उसके लिए आत्म-विस्मृति के तन्मय क्षण होते हैं।

वह शून्य होती है कि कोई सामने आता है, कोई घटना घटती है, कोई स्थिति करवट लेती है…कोई चोट लगती है…कोई दर्द होता है …फिर यह 'कोई' उसके भीतर दफन मुरदों को जिन्दा कर देता है… और कोई कहानी जन्म लेती है। उसके भीतर मुरदों का इतना विशाल अजायबघर है कि कभी-कभी जब वह अकेली उस अजायबघर में घूमती है तो चलते-चलते थक जाती है, लेकिन अजायबघर है कि खत्म नहीं होता…इस अजायबघर का दशमांश भी तो न वह देख पाई है, न दिखा पाई है…वह स्वयं भी तो इस अजायबघर में जाने कितने रूपों में दफन है।

इस ग्रात्मलेख में आपके सम्मुख दीप्ति बाहर से भीतर की ओर गई थी, अब फिर बाहर आती है…नहीं, लीजिए, वह भीतर और बाहर की संधि-रेखा पर खड़ी हो गई है।

जन्म और मृत्यु के जिस फासले को जिन्दगी कहते हैं, दीप्ति का वह फासला गतिहीन रहा है। प्रकृति से कर्मवादिनी वह नियति से अकर्मण्य होकर रह गई है—निर्दोष, किन्तु अकर्मण्यता की अपराधिनी। और उम्र उसपर से नहीं गुजरी है, वह उम्र पर से गुजर गई है—अछूती, अतृप्त, अनजियी!

उसके पास न कोई उल्लेखनीय डिग्री है, न कोई स्पृहणीय पद। उसकी सारी भौतिक स्थितियां उसके साथी की ही दी हुई हैं। इन भौतिक स्थितियों को लेकर केवल एक तीव्र दंश है उसके मन में कि क्यों सारी मानसिक क्षमताओं के बावजूद वह देह की अक्षमता के कारण निरन्तर लेने पर मजबूर हो गई?…कुछ दे नहीं सकी। काश! अपनी भौतिक स्थितियों का निर्माण वह स्वयं कर पाती…काश! वह एक लेखिका होने के साथ एक सफल व्यक्ति भी होती! किन्तु यहां न, उसकी अपनी ही देह उसका 'वाटरलू' बन गई है…एक दुर्बल देह में बंदी एक प्रबल मन निरंतर हारता रहा है।

आज भी प्रतिदिन, जब एक थके, उदास दिन के कंधों पर ढहती और भी थकी, उदास शाम को झेलती वह घर की घुटन से हटकर कुछ देर मुक्ति की सांस लेने के लिए बाहर निकलती है, तो प्रायः सुनती है

—ह्वाट ए कपल एंड ह्वाट ए लाइफ ! श्लाघा से कहे गए ये शब्द उसे भीतर तक वेध जाते हैं···एक विद्रूप को झेलते उसके ओठ टेढ़े हो जाते हैं और वह अपने-आपसे दुहराकर कहती है—येस, ह्वाट ए कपल एंड ह्वाट ए लाइफ इनडीड ! उन क्षणों वह उस साथी के प्रति नत होकर रह जाती है, जिसने अपनी सतत संभाल से उसके शरीर और प्राणों का संयोग बनाए रखा···यदि जीवन ही नहीं होता तो लेखन कहां होता ! अतः उसका जीवन ही नहीं, उसका लेखन भी इस सतत संभाल के प्रति नत है।

उसकी आत्मा के दो अंश उसके निकट हैं। पहला अंश एक सुकुमार बेटी है, जिसने पथ्य बनाकर, रस पिलाकर, अपनी छोटी-छोटी कामनाओं का त्याग कर और किन्हीं अर्थों में अपने नन्हे-से जीवन की भी बाज़ी लगाकर अपनी ममी को जीवनदान दिया है। वह बेटी जब एक स्वीकार-सी सामने खड़ी होती है, तो उसकी ममी की मन की आंखें छलछलाती होती हैं—क्या दे सकेगी वह अकिंचन मां इस बेटी को ? इस बेटी को वह अपनी मां कहती है।

उसकी आत्मा का दूसरा अंश एक तेज, घूमधाम करने वाला बेटा है जो एक दिन कुछ छिपाए उसके सामने आ खड़ा हुआ था। —ममी, आप आंखें बन्द कीजिए, एक चीज़ है। उसने आंखें बंद कीं, खोलीं, तो उसके हाथों में नन्हे हाथों से लिखी अंग्रेज़ी की एक कविता थी। शीर्षक था—'माई मदर'। कविता की कुछ पंक्तियां थीं—

ओह ! लुक एट माई मदर सो प्रेटी एंड फेयर
लुक एट हर डार्क ब्यूटीफुल हेअर
लुक एट हर ब्राइट लवली आइज़
एज़ वाइड एज़ द ओपन स्काइज़···

···तो उसकी आंखों से आकाश के तादात्म्य को उसकी ही कोख से जन्मे उस नन्हे कवि ने पढ़ लिया था···एक तृप्ति-सा वह बेटा जब सामने खड़ा होता है, तो उस अकिंचन ममी की आंखें फिर छलछलाती हैं—क्या दे सकेगी वह अपने इस बेटे को भी ? इस बेटे को वह अपना 'साक्षी' कहती है।

वह बार-बार सुनती है—क्या कमी है आपको ? ऐसा जीवन साथी, ऐसे बच्चे, और ऐसी आप स्वयं…! और अब तो यह ढेर-सा यश भी ! तब उसके भीतर कुछ सिर पटकने लगता है—और देह की एक उमर-कैद नहीं…?

उसे यदि कोई सहसा देखे तो एक संपूर्णता का आभास होना निश्चित है । प्रायः उसने भी सुना है—ए परफेक्ट वूमन लोवली प्लांड …लेकिन यह संपूर्णता कितनी खंडित, कितनी जर्जर है…यह कौन जानता है ?

उसकी बाहरी सज्जा साधारण होती है । किन्तु भीतर की कोई सज्जा उसके व्यक्तित्व में प्रतिभासित होती-सी उसे कुछ असाधारण बना जाती है । बाहरी सज्जाओं पर तो उसका वश नहीं रहा, किन्तु भीतर की सज्जा को वह पल-पल संवारती-सहेजती रही है…

इस संपूर्णता को खंडित स्तरों पर झेलती, घुटन को मुक्ति देने, कुछ देर जीने, वह कभी-कभी ही लिखती है और फिर सुनती है—आप इतना अधिक कैसे लिख लेती हैं ? पता नहीं, यह सब कैसे…क्यों…? इन प्रश्नों का कोई निश्चित उत्तर उसके पास नहीं है…

…और उसने कमलेश्वर जी को एक पत्र में लिखा है—नितान्त व्यक्तिगत संदर्भों में मेरा व्यक्ति बहुत थका, बहुत लड़खड़ाया हुआ है …और मेरा लेखक थकी, निस्पंद होती उंगलियों में लेखनी थामे भीतर और बाहर के विरोधों से जूझ रहा है…ऐसे में किसी रचना का स्वीकार जैसे उस अस्तित्व का स्वीकार बन जाता है, जो मृत्यु के दम-घोंट क्षणों में सांस के लिए संघर्ष कर रहा हो…मेरा लेखन मेरे लिए ऐसी ही सांसें हैं…लिखती हूं कि इन दमघोंट क्षणों में कुछ सांसें और ले सकूं…कुछ देर और जी सकूं…और बस…

विघटन

मिल के भोंपू की कर्कश, तीखी आवाज उसे नींद से जगा देती है। रात-भर सोने के बाद भी उसे लगता है जैसे उसे कच्ची नींद से जगा दिया गया हो। कच्ची नींद से जगा दिए जाने का यह अहसास उसे आजकल दिन-भर घेरे रहता है। बार-बार उसे लगता है, जैसे जो कुछ हो रहा है या वह कर रहा है, सब अधूरा है···पूर्णता की तुष्टि कहीं भी तो नहीं। वैसे वह जानता है कि पूर्णत्व एक कल्पना ही हो सकती है, दार्शनिकों के अनुसार तो सब कुछ अधूरा है। लेकिन नहीं, दार्शनिकों की बातें दार्शनिक जानें—उस जैसे मामूली आदमी के लिए तो खाने, पीने, सोने और जिन्दगी की छोटी-छोटी बातों में जी लेने की कोई पूर्णता होनी ही चाहिए। नींद-भर सोना तो हर आदमी का जन्मसिद्ध अधिकार है, लेकिन यह मिल का भोंपू रोज उसका यह अधिकार छीन लेता है। आंख खुलते ही एक खीभ-भरा अवसाद उसे घेर लेता है। वह चिड़चिड़ाता उठता है, फिर दिन-भर चिड़चिड़ाता रहता है।

नींद खुलने के पहले वह एक सपना देख रहा था। कितना अच्छा सपना था—जैसे वह एक बन्धनहीन अस्तित्व था, वह स्वप्नों में तैर रहा था, उसके चारों ओर फूल ही फूल थे, रोशनी थी···वह उन फूलों को छू रहा था···उस रोशनी को महसूस कर रहा था···धरती पर टिक जाता था, कभी हवाओं में उछल जाता था, लेकिन धरती पर टिकने या हवाओं में उछलने में एक परितृप्ति का अहसास था और परितृप्ति के उस अहसास को जैसे वह उस सपने में रोम-रोम से पी रहा था···। लेकिन तभी मिल के भोंपू की कर्कश तीखी आवाज ने उसे जगा दिया।

जाने क्यों वह बार-बार ऐसा सपना देखता है जब कि जागते हुए

वह उस सपने को सोच भी नहीं पाता। वह जिस माहौल में जीता है वह तो धूल, धुएं और पसीने से भरा होता है। रात को सोते-सोते उसकी नींद खुल जाती है तो वह पाता है कि उसकी मैली बनियाइन पसीने में भीगकर उसके बदन में चिपक गई है। पसीना उसे तब भी आता होता है जब वह दफ्तर में फाइलों पर झुका कलम घिसा करता है और दिन एक-सी गति में बीतते होते हैं और वह ठीक एक बंधी लीक पर कोल्हू के बैल की तरह निरर्थक चक्कर लगाता होता है। वह जिन सड़कों से गुजरता है वे प्रायः धूल से भरी होती हैं—उसकी जिन्दगी की राहों की तरह जिनपर चलते वह धूल ही फांकता रहा है—वह सोचता है। और धुआं, धुआं तो उसके अन्दर-बाहर सब जगह है। वातावरण में मिल का धुआं, घर की गीली लकड़ियों का, और मन में उस सुलगते 'कुछ' का, जो न जलता है, न बुझता है, बस रह-रहकर धुएं के गुबार उठते हैं और वह घुटता रह जाता है।

जागने पर वह अपने को १६ × १२ के एक कोठरीनुमा कमरे में, मैले-कुचैले बिस्तर पर पाता है। उसका तन-मन कड़ुआ जाता है। बदन तोड़ता वह उठता है। एक सिगरेट सुलगाकर ओठों से लगाने बुद-बुदाता है—'साले सोने भी नहीं देते...।' सहसा उसे ध्यान आता है किसे दे रहा है वह यह गाली ? मिल के भोंपू को या सारी व्यवस्था को जिसके खिलाफ एक आक्रोश लगातार उसके मन में घुमड़ता रहता है ? उसका बस चले तो आग लगा दे वह मिल के इस भोंपू को या उस सारी व्यवस्था को जिसकी मशीन में वह महज एक पुर्जे-सा फिट होकर रह गया है। मशीन का पुर्जा—खट्-खट् खटाखट्...ऊपर-नीचे या दायें-बायें—निरन्तर चलता है, लेकिन क्या यह चलना, चलना है ? उसे लगता है तिल-भर भी न हिल पाने की गुंजाइश के बीच वह ठीक किसी मशीन के एक पुर्जे-सा फिट है, विवश है, जड़ है...। सिगरेट इतनी जल चुकी है कि उंगलियों पर जलने का अहसास होते ही वह सिगरेट के बचे टुकड़े को फेंकता झल्लाता है—'और मैं क्या कम साला हूं...?'

कल ही तो महेश ने उससे कुछ रुपये उधार मांगे थे। उसकी पत्नी बीमार थी। महेश बहाना नहीं बना रहा है, वह जानता था। लेकिन

रुपये होते हुए भी रुपये न होने का बहाना उसने बनाया—'दे तो देता यार अगर होते।' महेश का चेहरा उसका उत्तर सुनते ही फक पड़ गया था। कहीं महेश चकराकर गिर न पड़े, वाकई उसकी पत्नी सख्त बीमार थी। महेश उसका दोस्त था, एक तरह से अभिन्न। शुरू-शुरू में वे एक दूसरे से उधार लेकर भूल जाया करते थे। वह एक सहज स्नेह की स्थिति थी। धीरे-धीरे वह असहज होता गया है। महेश से उसे अब भी प्यार है, लेकिन अब कुछ रुपये वह सिर्फ अपने लिए बचाकर रखता है—होश भुलाने के लिए। शाम को घर लौटते वह प्रायः एक अद्धा चढ़ा लेता है। कल अद्धा चढ़ाने के बाद वह अपने-आपको गाली देने लगा था—साले! महेश की बीवी मर गई तो···तो क्या···क्या सारी दुनिया को जिलाने का मैंने ठेका लिया है···हवा में ठेंगा उछालता वह देर तक इधर-उधर भटकता रहा था। फिर एक अद्धा और चढ़ाकर नशे में धुत घर लौटा था। महेश की बीवी का ध्यान और महेश का फीका मुख उसे इतना कोंचता रहा था कि उसे ज़्यादा पीनी पड़ी थी। यदि वह महेश को रुपये दे देता तो उसे एक आत्मिक संतोष अवश्य होता। कभी-कभी उसने ऐसे आत्मिक संतोष के प्रयास किए भी हैं, लेकिन जब ऐसे आत्मिक संतोष के बदले में उसे कई दिन शारीरिक अभाव झेलने पड़े हैं तो वह आत्मिक संतोषों को हाथ जोड़ बैठा है। और अब तो जिस स्थिति में वह है, यहां होश खोने के लिए उसे पीने को ज़रूर चाहिए। वह अब भी बहुत कुछ सह सकता है, सहता है, लेकिन सदा होश में रहने को नहीं सह पाता···।

पत्नी गिलास में चाय लिए आती है। गिलास तिपाई पर रखते उसे तिरछी नज़रों से देखती है—'पी ली सिगरेट? और तुम मानोगे थोड़े ही? तुम्हें मेरा खून जो पीना है। डाक्टर ने मना किया है तुम्हें सिगरेट के लिए, लेकिन तुम···तुम···' पत्नी वाक्य पूरा किए बिना चली जाती है। लो देवी जी का गुड-मार्निंग हो गया—एक खिसियाई हंसी हंसकर वह चाय पीने लगता है।

ऑफिस के लिए तैयार होने में उसे जो समय लगता है वह उसके चिन्तन का होता है। यह चिन्तन वह रोज़ करता है। रोज़ वह सोचता है,

आज का दिन कुछ नया होगा या आज के दिन वह कुछ नया करेगा। 'कुछ होने की' या 'कुछ करने की' एक छटपटाहट रोज सवेरे उसके भीतर उठती है। इस छटपटाहट से बेचैन होता वह शेव करता है, नहाता है, कपड़े पहनता है, लेकिन जब खाने बैठता है तो प्रतिदिन की भांति पतली-सी दाल में रोटी डुबाकर मुंह में रखते उसे लगता है इस दाल-रोटी के लिए एक निरर्थक संघर्ष ही उसकी नियति है।

उसे याद आता है, बचपन से बी० ए० पास करने तक उसकी आंखों में भावी जिन्दगी का एक चित्र बार-बार उभरता था—एक छोटा-सा घर, हंसमुख पत्नी, प्यारे-प्यारे बच्चे ! वह सोचता था कि बी० ए० पास करने के बाद वह जीने लायक हो जाएगा। जीने लायक ? जिन्दगी ? इस प्रश्न पर उसने जब भी सोचा वह सपनों में खोकर रह गया था। फिर उसने बी० ए० पास भी किया, विवाह भी किया, बच्चे भी हुए और वह जी भी रहा है···क्या जी रहा है वह—एक जिन्दगी या निरर्थकता का एक दमघोंटू अहसास···? दाल-रोटी का गले में अटकता कौर पानी से उतारते वह पत्नी से कहता है—'रोज वही दाल-रोटी, कभी तो कुछ और बना लिया करो।'

'क्या बनाऊं अपने हाड़ ?' पत्नी चीख पड़ती है, 'देखते नहीं चीजों में आग लगी हुई है, कीमतें आसमान को छू रही हैं।'

वह पत्नी को देखता है। पत्नी रोटियां सेंक रही है। पत्नी के मुख पर तनाव का भाव जैसे स्थायी होकर रह गया है। तनी भौंहें, क्रुद्ध दृष्टि, खिंचे होंठ—पत्नी क्रुद्ध सर्पिणी-सी फुफकारती रहती है। उसे याद आता है, जब पहली बार उसने पत्नी को देखा था तो वह लजाकर हंस पड़ी थी। उसके सांवले कपोलों पर गढे पड गए थे। उन गढ़ों में उंगलियां चुभाते उसने कहा था—'कितने अच्छे लगते हैं हंसते समय तुम्हारे गालों के ये गढे !' पत्नी ने आंखें मिलाई थी और फिर हंस दी थी। पत्नी के वे हंसती आंखें उसे सदा याद रही आईं···कहां खो गई वह हंसी ? पत्नी पिछली बार कब हंसी थी—वह सोचता रह जाता है।

'बच्चे स्कूल गए ?' वह एक प्रश्न और करता है। बच्चे स्कूल गए ही होंगे, वह जानता है। अपने प्रश्न की निरर्थकता उसे मालूम है,

फिर भी वह पत्नी से किसी और उत्तर की आशा में प्रश्न कर ही बैठता है—शायद पत्नी ही उसके घिसटते प्रश्न के उत्तर में कोई दौड़ता उत्तर दे। कुछ तो ऐसा हो कि दाल-रोटी, पत्नी, बच्चे, वह सब एक जीवन्त एकसूत्रता में बंध जाए...लेकिन पत्नी उसकी ओर जलती आंखों से देखती है—'बच्चे स्कूल नहीं जाएंगे तो क्या भाड़ में जाएंगे ? अब तुम भी अपने धन्धे पर जाओ। और मुझे छोड़ जाओ रोने के लिए।'

पत्नी रोटियां सेंकना बन्द कर चुकी है। चूल्हे की आग बुझ गई है। वह भी खाना खत्म कर चुका है। हाथ धोने के लिए वह लोटा उठाता है तो पत्नी फिर चीखती है—'अरे पानी कम लो, कितनी बार कहा कि इस पानी के लिए मुझे मरना पड़ता है।' वह चार कुल्लों की जगह दो ही कुल्ले करता है। हवा और पानी...प्रकृति की देन है और अभी तो हवा पर टैक्स नहीं लगा है, लेकिन सांस लेते समय उसे बार-बार लगता है जैसे वह इस सांस की भी कीमत दे रहा हो। चार कुल्लों की जगह दो कुल्ले करते उसे पत्नी की एक बात और याद आती है। वह कहा करती थी—'देखो, हम ऐसा घर लेंगे कि चाहे कोठरी एक ही हो लेकिन कहीं एक नल घर में ज़रूर हो। पानी की किल्लत हो तो जीना मुश्किल हो जाता है।' संसार में इतना पानी है, मनुष्य ने इतने घर बनाए हैं तो क्या उसे एक नल वाला छोटा-सा घर नहीं मिलेगा ? आखिर उसने बी० ए० पास किया है, वह विश्वास से भरकर सोचता था। लेकिन हताशा की स्थिति में जब उसे घर मिला तो उसमें नल नहीं था। घर में पैर रखते ही पत्नी थककर बैठ गई थी—'पानी तो गली के सरकारी नल से ही लाना पड़ेगा। बस्ती भी कितनी घनी है, जीना मुश्किल हो जाएगा।' तब से कुल्ला-भर पानी के लिए चिड़-चिड़ाती पत्नी को झेलता वह अपने आस-पास उस तृप्ति को ढूंढ़ता रह गया है जो उसे मिलनी चाहिए, पर नहीं मिलती।

तृप्ति की यह चाह उसे बार-बार पत्नी के निकट ले जाती है। लेकिन आनन्द की खोज में जब वह पत्नी के साथ होता है तो उसे लगता है कि वह महज़ एक शारीरिक प्रक्रिया को दुहरा है। पत्नी का ही नहीं, अपना जिस्म भी उसे खाली लगने लगता है। दिन-भर की

थकान और हताशा को वह रात में पत्नी में डूबकर भुला देता है, लेकिन डूबने के क्षणों में भी अपना और पत्नी का जिस्म उसे उन मुर्दों-सा लगता है जो जीने का नाटक भर कर रहे हों।

वह पत्नी के कपोलों पर उंगलियां घुमाता है—'ज़रा हंसो न !'

पत्नी हंस भी देती है, गड्ढे भी पड़ जाते हैं लेकिन पत्नी की हंसी और अपना प्यार—सब उसे खोखला लगता है। बचपन में वह अपनी परछाईं के पीछे दौड़ने लगता था। परछाईं के पीछे दौड़ने का वह खेल उसे बहुत अच्छा लगता था। अब जब अपनी परछाईं को देखता है तो उसे वह खेल याद आ जाता है···उसे लगता है अब भी वह परछाईं को पकड़ने का कोई अन्तहीन खेल खेल रहा है, और यह खेल धीरे-धीरे एक क्रूर यथार्थ में परिणत होता गया है।

पत्नी के खोखलेपन को भुलाने के लिए कभी-कभी वह उस बाज़ार का चक्कर लगा लेता है जहां 'आनन्द' बिकता है। कुछ देर के लिए पांच-दस रुपयों में वह एक जिस्म खरीदता है। उसका जिस्म कुछ देर के लिए गर्म होता भी है, लेकिन भीतर ही भीतर वह और ठंडा हो जाता है। कभी-कभी उसका जिस्म भी गर्म नहीं हो पाता तो वह कोई टहोका मारती है—'अरे बाबू पैसा दिया है तो मज़ा लूटो। ये मन्दिर नहीं, जहां तुम ध्यान लगा रहे हो, ये चकला है चकला !' और वह छटपटाकर वहां से भागा आता है। उस दरवाज़े से निकलते वह थूकता है, एक कसम-सी खाता है कि अब वह यहां फिर नहीं आएगा। लेकिन परछाईं को पकड़ने का क्रूर यथार्थ जब उसे चारों ओर से जकड़ लेता है तो वह ऐसे ही किसी आनन्द में डूबकर उबरने का एक असफल प्रयास फिर करता है···और हर बार उसे लगता है जैसे वह पहले से अधिक हार गया है, टूट गया है, थक गया है। क्या करे वह ? कहां जाए ? पत्नी के साहचर्य में या तो एक खोखलापन है या एक तनाव। और इन खरीदे हुए आनन्द में एक ऊब या एक दंश। वह बार-बार खोखलेपन और ऊब को, इस तनाव और दंश की तुलना करता है और पाता है कि इन दोनों के बीच वह छटपटाता रह गया है।

कभी उसके मन में एक कल्पना थी, एक छोटी-सी सीधी-सादी

कल्पना—एक साफ-सुथरे जीवन की, एक ऐसे जीवन की जिसे जीते वह अपने को इन्सान कह सके, जहां पेट भरने में कोई सार्थकता हो, पत्नी के साथ होने का कोई स्तर हो, जीवन का कोई अर्थ हो। ऐसे तो पशु भी शरीर के स्तर पर जी लेते हैं। उसने पशु से उठने की, एक स्तर को पाने की, एक अर्थ ढूंढ़ने की बार-बार कोशिश की है और बार-बार पाया है कि वह एक ऐसी व्यवस्था का शिकार है जहां दाल-रोटी का संघर्ष नियति बन जाता है, जहां पानी की समस्या तनाव की स्थिति बन जाती है, जहां व्यक्ति किन्हीं अदृश्य-अनाम चोटों से निरन्तर विघटित होता रह जाता है।

मिल उसके घर से कुछ ही दूरी पर है जिसके दफ्तर में वह काम करता है। काम पर जाने का कोई उत्साह उसमें नहीं रहता। धीरे-धीरे कदम घसीटता वह दफ्तर पहुंचता है और कुर्सी घसीटकर उसपर बैठते अपनी घिसटती जिन्दगी को सोचने लगता है। दफ्तर के कमरे में भी शकर के बोरे भरे रहते हैं और कमरा कुछ चेहरों से भी भरा होता है। लेकिन शकर के बोरों और चेहरों से घिरे होने पर भी वह अपने आप को अकेला पाता है। चेहरे—और चेहरे···थके, उदास चेहरे···परेशान, खोखले चेहरे···एक-दूसरे से अजनबी, कटे चेहरे। शर्माजी, महेश, विनय, सक्सेना और यह नया मुर्गा सुधीर, नया-नया है न, तभी ज़रा रौनक है। ठहरो बेटा, तुम भी कहां बचोगे? 'चलती चाकी देखि कै दिया कबीरा रोय, दुइ पट भीतर आइ के साबित बचा न कोय'—कबीर ने इससे सार्थक और कुछ नहीं कहा, वह गहरी ठण्डी सांस लेकर सोचता है। कभी वह भी सुधीर जैसा था···और अब? अब वह चलती चाकी के निर्मम सत्य को मर-मरकर जी चुका है। सुधीर से उसे ईर्ष्या भी होती है, उसपर प्यार भी आता है—काश, सुधीर के चेहरे की रौनक बनी रह सके!

इस भीड़ में एक चेहरा उसका अपना भी है। तीखी नाक और बड़ी-बड़ी आंखों के बावजूद यह चेहरा प्रभावहीन है। छत्तीस वर्ष की जिन्दगी की नोच-खसोट इस चेहरे पर गहरी लकीरों में उभर आई है। इस चेहरे को एक अस्तित्व देने की उसने अनेक असफल कोशिशें की हैं।

अब शेव करते समय आईने में इस चेहरे को देखते वह तिक्त हो उठता है —साले, कुत्ते-बिल्लियों की भी कोई पहचान होती है क्या !

रह-रहकर मिल से दुर्गन्ध उठती है—असह्य घिनौनी दुर्गन्ध । शुरू में इस दुर्गन्ध से उसे मितली आ जाया करती थी, अब जैसे वह इस दुर्गन्ध का भी आदी हो गया है । दर्द का हद से गुजर जाना दवा हो जाना है···वह शायराना अन्दाज में सोचता है । यह मिसरा उसे बहुत अच्छा लगता है । कभी वह अधखुली आंखों से आकाश की ओर देखते यह मिसरा गुनगुनाया करता था···अब यह मिसरा मिल की दुर्गन्ध के संदर्भ में उसके ओठों पर आता है तो उसे लगता है दर्द, दुर्गन्ध के दर्द को भी क्या किसी शायर ने रियलाइज किया होगा !

हर सवेरे वह एक मुश्किल में पड़ जाता है । दस परिवारों के बीच केवल दो शौचगृह हैं । वहां भी 'क्यू'-सी लगी रहती है । दुर्गन्ध के भभके उठते रहते हैं । बाहर धीरे-धीरे सवेरे का उजास फूटता होता है, सवेरे की ताजगी बिखरती होती है, एक नया दिन जागता होता है । भीतर वह बार-बार सिगरेट पीता हाजत को दबाता गालियां बुदबुदाता होता है । प्राकृतिक जरूरतों के लिए भी यह मुश्किल···उसका जी चाहता है वह आक्रामक हो जाए···दो-चार के सिर फोड़ दे, कुछ तो भीड़ कम हो ! पत्नी चाहती है, घर में नल हो । वह चाहता है, घर में एक अपना शौचगृह भी हो, साफ-सुथरा, जहां से दुर्गन्ध के भभके न उठते हों, जहां इन्सानों की तरह···लेकिन न पत्नी को नल मिला न उसे ऐसा शौचगृह मिलेगा । हाजत दबाते-दबाते उसे कब्ज रहने लगा है ।

दफ्तर में अपनी कुर्सी से चिपके रहने के लिए उसे लगातार प्रयत्न करना पड़ता है । किसी-किसी दिन भीतर का विद्रोह इतना प्रबल हो उठता है कि *वह बार-बार दरवाजे से बाहर निकल भागना चाहता है ।* वह उठता है, तेजी से बाहर जाता है, फिर पेशाब करके शिथिल-सा लौट आता है । कहां जाएगा वह ? जा ही कहां सकता है ? फाइलों पर झुकी उसकी आंखों के आगे अक्षर धब्बे बनकर फैलने लगते हैं । धब्बे बड़े होने लगते हैं या उसकी आंखें ही धुंधलाने लगती हैं ! वह बार-बार चश्मा पोंछता है । बी० ए० की डिग्री उसकी धुंधलाती आंखों

कल्पना—एक साफ-सुथरे जीवन की, एक ऐसे जीवन की जिसे जीते वह अपने को इन्सान कह सके, जहां पेट भरने में कोई सार्थकता हो, पत्नी के साथ होने का कोई स्तर हो, जीवन का कोई अर्थ हो। ऐसे तो पशु भी शरीर के स्तर पर जी लेते हैं। उसने पशु से उठने की, एक स्तर को पाने की, एक अर्थ ढूंढ़ने की बार-बार कोशिश की है और बार-बार पाया है कि वह एक ऐसी व्यवस्था का शिकार है जहां दाल-रोटी का संघर्ष नियति बन जाता है, जहां पानी की समस्या तनाव की स्थिति बन जाती है, जहां व्यक्ति किन्हीं अदृश्य-अनाम चोटों से निरन्तर विघटित होता रह जाता है।

मिल उसके घर से कुछ ही दूरी पर है जिसके दफ्तर में वह काम करता है। काम पर जाने का कोई उत्साह उसमें नहीं रहता। धीरे-धीरे कदम घसीटता वह दफ्तर पहुंचता है और कुर्सी घसीटकर उसपर बैठते अपनी घिसटती ज़िन्दगी को सोचने लगता है। दफ्तर के कमरे में भी शकर के बोरे भरे रहते हैं और कमरा कुछ चेहरों से भी भरा होता है। लेकिन शकर के बोरों और चेहरों से घिरे होने पर भी वह अपने आप को अकेला पाता है। चेहरे—और चेहरे···थके, उदास चेहरे···परेशान, खोखले चेहरे···एक-दूसरे से अजनबी, कटे चेहरे। शर्माजी, महेश, विनय, सक्सेना और यह नया मुर्गा सुधीर, नया-नया है न, तभी ज़रा रौनक है। ठहरो बेटा, तुम भी कहां बचोगे? 'चलती चाकी देखि कै दिया कबीरा रोय, दुइ पट भीतर आइ के साबित बचा न कोय'—कबीर ने इससे सार्थक और कुछ नहीं कहा, वह गहरी ठण्डी सांस लेकर सोचता है। कभी वह भी सुधीर जैसा था···और अब? अब वह चलती चाकी के निर्मम सत्य को मर-मरकर जी चुका है। सुधीर से उसे ईर्ष्या भी होती है, उसपर प्यार भी आता है—काश, सुधीर के चेहरे की रौनक बनी रह सके!

इस भीड़ में एक चेहरा उसका अपना भी है। तीखी नाक और बड़ी-बड़ी आंखों के बावजूद यह चेहरा प्रभावहीन है। छत्तीस वर्ष की ज़िन्दगी की नोच-खसोट इस चेहरे पर गहरी लकीरों में उभर आई है। इस चेहरे को एक अस्तित्व देने की उसने अनेक असफल कोशिशें की हैं।

अब शेव करते समय आईने में इस चेहरे को देखते वह तिक्त हो उठता है —साले, कुत्ते-बिल्लियों की भी कोई पहचान होती है क्या !

रह-रहकर मिल से दुर्गन्ध उठती है—असह्य घिनौनी दुर्गन्ध। शुरू में इस दुर्गन्ध से उसे मितली आ जाया करती थी, अब जैसे वह इस दुर्गन्ध का भी आदी हो गया है। दर्द का हद से गुजर जाना दवा हो जाना है···वह शायराना अन्दाज़ में सोचता है। यह मिसरा उसे बहुत अच्छा लगता है। कभी वह अधखुली आंखों से आकाश की ओर देखते यह मिसरा गुनगुनाया करता था···अब यह मिसरा मिल की दुर्गन्ध के संदर्भ में उसके होंठो पर आता है तो उसे लगता है दर्द, दुर्गन्ध के दर्द को भी क्या किसी शायर ने रियलाइज़ किया होगा !

हर सबेरे वह एक मुश्किल में पड़ जाता है। दस परिवारों के बीच केवल दो शौचगृह हैं। वहां भी 'क्यू'-सी लगी रहती है। दुर्गन्ध के भभके उठते रहते हैं। बाहर धीरे-धीरे सबेरे का उजास फूटता होता है, सबेरे की ताज़गी बिखरती होती है, एक नया दिन जागता होता है। भीतर वह बार-बार सिगरेट पीता हाजत को दबाता गालियां दुहराता होता है। प्राकृतिक जरूरतों के लिए भी यह मुश्किल···उसका जी चाहता है वह आक्रामक हो जाए···दो-चार के सिर फोड़ दे, कुछ तो भीड़ कम हो ! पत्नी चाहती है, घर में नल हो। वह चाहता है, घर में एक अपना शौचगृह भी हो, साफ-सुथरा, जहां से दुर्गन्ध के भभके न उठते हों, जहां इन्सानों की तरह···लेकिन न पत्नी को नल मिला न उसे ऐसा शौचगृह मिलेगा। हाजत दबाते-दबाते उसे कब्ज़ रहने लगा है।

दफ्तर में अपनी कुर्सी से चिपके रहने के लिए उसे लगातार प्रयत्न करना पड़ता है। किसी-किसी दिन भीतर का विद्रोह इतना प्रबल हो उठता है कि वह बार-बार दरवाज़े से बाहर निकल भागना चाहता है। वह उठता है, तेज़ी से बाहर जाता है, फिर पेशाब करके शिथिल-सा लौट आता है। कहां जाएगा वह ? जा ही कहां सकता है ? फाइलों पर झुकी उसकी आंखों के आगे अक्षर धब्बे बनकर फैलने लगते हैं। धब्बे बड़े होने लगते हैं या उसकी आंखें ही धुंधलाने लगती हैं ! वह बार-बार चश्मा पोंछता है। बी० ए० की डिग्री उसकी धुंधलाती आंखों

कल्पना—एक साफ-सुथरे जीवन की, एक ऐसे जीवन की जिसे जीते वह अपने को इन्सान कह सके, जहां पेट भरने में कोई सार्थकता हो, पत्नी के साथ होने का कोई स्तर हो, जीवन का कोई अर्थ हो। ऐसे तो पशु भी शरीर के स्तर पर जी लेते हैं। उसने पशु से उठने की, एक स्तर को पाने की, एक अर्थ ढूंढ़ने की बार-बार कोशिश की है और बार-बार पाया है कि वह एक ऐसी व्यवस्था का शिकार है जहां दाल-रोटी का संघर्ष नियति बन जाता है, जहां पानी की समस्या तनाव की स्थिति बन जाती है, जहां व्यक्ति किन्हीं अदृश्य-अनाम चोटों से निरन्तर विघटित होता रह जाता है।

मिल उसके घर से कुछ ही दूरी पर है जिसके दफ्तर में वह काम करता है। काम पर जाने का कोई उत्साह उसमें नहीं रहता। धीरे-धीरे कदम घसीटता वह दफ्तर पहुंचता है और कुर्सी घसीटकर उसपर बैठते अपनी घिसटती ज़िन्दगी को सोचने लगता है। दफ्तर के कमरे में भी शकर के बोरे भरे रहते हैं और कमरा कुछ चेहरों से भी भरा होता है। लेकिन शकर के बोरों और चेहरों से घिरे होने पर भी वह अपने आप को अकेला पाता है। चेहरे—और चेहरे...थके, उदास चेहरे...परेशान, खोखले चेहरे...एक-दूसरे से अजनबी, कटे चेहरे। शर्माजी, महेश, विनय, सक्सेना और यह नया मुर्गा सुधीर, नया-नया है न, तभी ज़रा रौनक है। ठहरो बेटा, तुम भी कहां बचोगे? 'चलती चाकी देखि कै दिया कबीरा रोय, दुइ पट भीतर आइ के साबित बचा न कोय'—कबीर ने इससे सार्थक और कुछ नहीं कहा, वह गहरी ठण्डी सांस लेकर सोचता है। कभी वह भी सुधीर जैसा था...और अब? अब वह चलती चाकी के निर्मम सत्य को मर-मरकर जी चुका है। सुधीर से उसे ईर्ष्या भी होती है, उसपर प्यार भी आता है—काश, सुधीर के चेहरे की रौनक बनी रह सके!

इस भीड़ में एक चेहरा उसका अपना भी है। तीखी नाक और बड़ी-बड़ी आंखों के बावजूद यह चेहरा प्रभावहीन है। छत्तीस वर्ष की ज़िन्दगी की नोंच-खसोट इस चेहरे पर गहरी लकीरों में उभर आई है। इस चेहरे को एक अस्तित्व देने की उसने अनेक असफल कोशिशें की हैं।

अब दाढ़ी करते समय आईने में इस चेहरे को देखते वह तिक्त हो उठता है —साले, कुत्ते-बिल्लियों की भी कोई पहचान होती है क्या !

रह-रहकर मिल से दुर्गन्ध उठती है—असह्य घिनौनी दुर्गन्ध। शुरू में इस दुर्गन्ध से उसे मितली आ जाया करती थी, अब जैसे वह इस दुर्गन्ध का भी आदी हो गया है। दर्द का हद से गुजर जाना दवा हो जाना है…वह शायराना अन्दाज से सोचता है। यह मिसरा उसे बहुत अच्छा लगता है। कभी वह अधखुली आंखों से आकाश की ओर देखते यह मिसरा गुनगुनाया करता था…अब यह मिसरा मिल की दुर्गन्ध के संदर्भ में उसके होंठों पर आता है तो उसे लगता है दर्द, दुर्गन्ध के दर्द को भी क्या किसी शायर ने रियलाइज किया होगा !

हर सवेरे वह एक मुश्किल में पड़ जाता है। दस परिवारों के बीच केवल दो शौचगृह हैं। वहां भी 'क्यू'-सी लगी रहती है। दुर्गन्ध के भभके उठते रहते हैं। बाहर धीरे-धीरे सवेरे का उजास फूटता होता है, सवेरे की ताजगी बिखरती होती है, एक नया दिन जागता होता है। भीतर वह बार-बार सिगरेट पीता हाजत को दबाता गालियां दुहराता होता है। प्राकृतिक जरूरतों के लिए भी यह मुश्किल…उसका जी चाहता है वह आक्रामक हो जाए…दो-चार के सिर फोड़ दे, कुछ तो भीड़ कम हो ! पत्नी चाहती है, घर में नल हो। वह चाहता है, घर में एक अपना शौचगृह भी हो, साफ-सुथरा, जहां से दुर्गन्ध के भभके न उठते हों, जहां इन्सानों की तरह…लेकिन न पत्नी को नल मिला न उसे ऐसा शौचगृह मिलेगा। हाजत दबाते-दबाते उसे कब्ज रहने लगा है।

दफ्तर में अपनी कुर्सी से चिपके रहने के लिए उसे लगातार प्रयत्न करना पड़ता है। किसी-किसी दिन भीतर का विद्रोह इतना प्रबल हो उठता है कि वह बार-बार दरवाजे से बाहर निकल भागना चाहता है। वह उठता है, तेजी से बाहर जाता है, फिर पेशाब करके शिथिल-सा लौट आता है। कहां जाएगा वह ? जा ही कहां सकता है ? फाइलों पर झुकी उसकी आंखों के आगे अक्षर धब्बे बनकर फैलने लगते हैं। धब्बे बड़े होने लगते हैं या उसकी आंखें ही धुंधलाने लगती हैं ! वह बार-बार चश्मा पोंछता है। बी० ए० की डिग्री उसकी धुंधलाती आंखों

कल्पना—एक साफ-सुथरे जीवन की, एक ऐसे जीवन की जिसे जीते वह अपने को इन्सान कह सके, जहां पेट भरने में कोई सार्थकता हो, पत्नी के साथ होने का कोई स्तर हो, जीवन का कोई अर्थ हो। ऐसे तो पशु भी शरीर के स्तर पर जी लेते हैं। उसने पशु से उठने की, एक स्तर को पाने की, एक अर्थ ढूंढ़ने की बार-बार कोशिश की है और बार-बार पाया है कि वह एक ऐसी व्यवस्था का शिकार है जहां दाल-रोटी का संघर्ष नियति बन जाता है, जहां पानी की समस्या तनाव की स्थिति बन जाती है, जहां व्यक्ति किन्हीं अदृश्य-अनाम चोटों से निरन्तर विघटित होता रह जाता है।

मिल उसके घर से कुछ ही दूरी पर है जिसके दफ्तर में वह काम करता है। काम पर जाने का कोई उत्साह उसमें नहीं रहता। धीरे-धीरे कदम घसीटता वह दफ्तर पहुंचता है और कुर्सी घसीटकर उसपर बैठते अपनी घिसटती जिन्दगी को सोचने लगता है। दफ्तर के कमरे में भी शकर के बोरे भरे रहते हैं और कमरा कुछ चेहरों से भी भरा होता है। लेकिन शकर के बोरों और चेहरों से घिरे होने पर भी वह अपने आप को अकेला पाता है। चेहरे—और चेहरे···थके, उदास चेहरे···परेशान, खोखले चेहरे···एक-दूसरे से अजनबी, कटे चेहरे। शर्माजी, महेश, विनय, सक्सेना और यह नया मुर्गा सुधीर, नया-नया है न, तभी ज़रा रौनक है। ठहरो बेटा, तुम भी कहां बचोगे? 'चलती चाकी देखि कै दिया कबीरा रोय, दुइ पट भीतर आइ के साबित बचा न कोय'—कबीर ने इससे सार्थक और कुछ नहीं कहा, वह गहरी ठण्डी सांस लेकर सोचता है। कभी वह भी सुधीर जैसा था···और अब? अब वह चलती चाकी के निर्मम सत्य को मर-मरकर जी चुका है। सुधीर से उसे ईर्ष्या भी होती है, उसपर प्यार भी आता है—काश, सुधीर के चेहरे की रौनक बनी रह सके!

इस भीड़ में एक चेहरा उसका अपना भी है। तीखी नाक और बड़ी-बड़ी आंखों के बावजूद यह चेहरा प्रभावहीन है। छत्तीस वर्ष की जिन्दगी की नोच-खसोट इस चेहरे पर गहरी लकीरों में उभर आई है। इस चेहरे को एक अस्तित्व देने की उसने अनेक असफल कोशिशें की हैं।

अब शेव करते समय आईने में इस चेहरे को देखते वह चकित हो उठता है —साले, कुत्ते-बिल्लियों की भी कोई पहचान होती है क्या !

रह-रहकर मिल से दुर्गन्ध उठती है—असह्य घिनौनी दुर्गन्ध। शुरू में इस दुर्गन्ध से उसे मितली आ जाया करती थी, अब जैसे वह इस दुर्गन्ध का भी आदी हो गया है। दर्द का हद से गुजर जाना दवा हो जाना है'''वह शायराना अन्दाज में सोचता है। यह मिसरा उसे बहुत अच्छा लगता है। कभी वह अधखुली आंखों से आकाश की ओर देखते यह मिसरा गुनगुनाया करता था'''अब यह मिसरा मिल की दुर्गन्ध के संदर्भ में उसके होंठों पर आता है तो उसे लगता है दर्द, दुर्गन्ध के दर्द को भी क्या किसी शायर ने रियलाइज किया होगा !

हर सवेरे वह एक मुश्किल में पड़ जाता है। दस परिवारों के बीच केवल दो शौचगृह हैं। वहां भी 'क्यू'-सी लगी रहती है। दुर्गन्ध के भभके उठते रहते हैं। बाहर धीरे-धीरे सवेरे का उजास फूटता होता है, सवेरे की ताजगी बिखरती होती है, एक नया दिन जागता होता है। भीतर वह बार-बार सिगरेट पीता हाजत को दबाता गालियां दुहराता होता है। प्राकृतिक जरूरतों के लिए भी यह मुश्किल'''उसका जी चाहता है वह आक्रामक हो जाए'''दो-चार के सिर फोड़ दे, कुछ तो भीड़ कम हो ! पत्नी चाहती है, घर में नल हो। वह चाहता है, घर में एक अपना शौचगृह भी हो, साफ-सुथरा, जहां से दुर्गन्ध के भभके न उठते हों, जहां इन्सानों की तरह'''लेकिन न पत्नी को नल मिला न उसे ऐसा शौचगृह मिलेगा। हाजत दबाते-दबाते उसे कब्ज रहने लगा है।

दफ्तर में अपनी कुर्सी से चिपके रहने के लिए उसे लगातार प्रयत्न करना पड़ता है। किसी-किसी दिन भीतर का विद्रोह इतना प्रबल हो उठता है कि वह बार-बार दरवाजे से बाहर निकल भागना चाहता है। वह उठता है, तेजी से बाहर जाता है, फिर पेशाब करके शिथिल-सा लौट आता है। कहां जाएगा वह ? जा ही कहां सकता है ? फाइलों पर झुकी उसकी आंखों के आगे अक्षर धब्बे बनकर फैलने लगते हैं। धब्बे बड़े होने लगते हैं या उसकी आंखें ही धुंधलाने लगती हैं ! वह बार-बार चश्मा पोंछता है। बी० ए० की डिग्री उसकी धुंधलाती आंखों

कल्पना—एक साफ-सुथरे जीवन की, एक ऐसे जीवन की जिसे जीते वह अपने को इन्सान कह सके, जहां पेट भरने में कोई सार्थकता हो, पत्नी के साथ होने का कोई स्तर हो, जीवन का कोई अर्थ हो। ऐसे तो पशु भी शरीर के स्तर पर जी लेते हैं। उसने पशु से उठने की, एक स्तर को पाने की, एक अर्थ ढूंढ़ने की वार-वार कोशिश की है और वार-वार पाया है कि वह एक ऐसी व्यवस्था का शिकार है जहां दाल-रोटी का संघर्ष नियति वन जाता है, जहां पानी की समस्या तनाव की स्थिति वन जाती है, जहां व्यक्ति किन्हीं अदृश्य-अनाम चोटों से निरन्तर विघटित होता रह जाता है।

मिल उसके घर से कुछ ही दूरी पर है जिसके दफ्तर में वह काम करता है। काम पर जाने का कोई उत्साह उसमें नहीं रहता। धीरे-धीरे कदम घसीटता वह दफ्तर पहुंचता है और कुर्सी घसीटकर उसपर वैठते अपनी घिसटती जिन्दगी को सोचने लगता है। दफ्तर के कमरे में भी शकर के वोरे भरे रहते हैं और कमरा कुछ चेहरों से भी भरा होता है। लेकिन शकर के वोरों और चेहरों से घिरे होने पर भी वह अपने आप को अकेला पाता है। चेहरे—और चेहरे···थके, उदास चेहरे···परेशान, खोखले चेहरे···एक-दूसरे से अजनवी, कटे चेहरे। शर्माजी, महेश, विनय, सक्सेना और यह नया मुर्गा सुधीर, नया-नया है न, तभी ज़रा रौनक है। ठहरो वेटा, तुम भी कहां वचोगे? 'चलती चाकी देखि कै दिया कवीरा रोय, दुइ पट भीतर आइ के सावित वचा न कोय'—कवीर ने इससे सार्थक और कुछ नहीं कहा, वह गहरी ठण्डी सांस लेकर सोचता है। कभी वह भी सुधीर जैसा था···और अव? अव वह चलती चाकी के निर्मम सत्य को मर-मरकर जी चुका है। सुधीर से उसे ईर्ष्या भी होती है, उसपर प्यार भी आता है—काश, सुधीर के चेहरे की रौनक बनी रह सके!

इस भीड़ में एक चेहरा उसका अपना भी है। तीखी नाक और बड़ी आंखों के वावजूद यह चेहरा प्रभावहीन है। छत्तीस वर्ष की ज़िन्दगी की नोच-खसोट इस चेहरे पर गहरी लकीरों में उभर आई है। इस चेहरे को एक अस्तित्व देने की उसने अनेक असफल कोशिशें की हैं।

अब शेव करते समय आईने में इस चेहरे को देखते वह तिक्त हो उठता है —साले, कुत्ते-बिल्लियों की भी कोई पहचान होती है क्या !

रह-रहकर मिल से दुर्गन्ध उठती है—असह्य घिनौनी दुर्गन्ध । शुरू में इस दुर्गन्ध से उसे मितली आ जाया करती थी, अब जैसे वह इस दुर्गन्ध का भी आदी हो गया है। दर्द का हद से गुज़र जाना दवा हो जाना है···वह शायराना अन्दाज़ में सोचता है। यह मिसरा उसे बहुत अच्छा लगता है। कभी वह अधखुली आंखों में आसमान की ओर देखते यह मिसरा गुनगुनाया करता था···अब यह मिसरा मिल की दुर्गन्ध के संदर्भ में उसके ओठों पर आता है तो उसे लगता है दर्द, दुर्गन्ध के दर्द को भी क्या किसी शायर ने रियलाइज़ किया होगा !

हर सबेरे वह एक मुश्किल में पड़ जाता है। दस परिवारों के बीच केवल दो शौचगृह हैं। वहां भी 'क्यू'-सी लगी रहती है। दुर्गन्ध के भभके उठते रहते हैं। बाहर धीरे-धीरे सबेरे का उजास फूटता होता है, सबेरे की ताज़गी बिखरती होती है, एक नया दिन जागता होता है। भीतर वह बार-बार सिगरेट पीता हाजत को दबाता गालियां दुहराता होता है। प्राकृतिक ज़रूरतों के लिए भी यह मुश्किल···उसका जी चाहता है वह आक्रामक हो जाए···दो-चार के सिर फोड़ दे, कुछ तो भीड़ कम हो ! पत्नी चाहती है, घर में नल हो। वह चाहता है, घर में एक अपना शौचगृह भी हो, साफ-सुथरा, जहां से दुर्गन्ध के भभके न उठते हों, जहां इन्सानों की तरह···लेकिन न पत्नी को नल मिला न उसे ऐसा शौचगृह मिलेगा। हाजत दबाते-दबाते उसे कब्ज़ रहने लगा है।

दफ्तर में अपनी कुर्सी से चिपके रहने के लिए उसे लगातार प्रयत्न करना पड़ता है। किसी-किसी दिन भीतर का विद्रोह इतना प्रबल हो उठता है कि वह बार-बार दरवाज़े से बाहर निकल भागना चाहता है। वह उठता है, तेज़ी से बाहर जाता है, फिर पेशाब करके शिथिल-सा लौट आता है। कहां जाएगा वह ? जा ही कहां सकता है ? फाइलों पर झुकी उसकी आंखों के आगे अक्षर धब्बे बनकर फैलने लगते हैं। धब्बे बड़े होने लगते हैं या उसकी आंखें ही धुंधलाने लगती हैं ! वह बार-बार चश्मा पोंछता है। बी० ए० की डिग्री उसकी धुंधलाती आंखों

कल्पना—एक साफ-सुथरे जीवन की, एक ऐसे जीवन की जिसे जीते वह अपने को इन्सान कह सके, जहां पेट भरने में कोई सार्थकता हो, पत्नी के साथ होने का कोई स्तर हो, जीवन का कोई अर्थ हो। ऐसे तो पशु भी शरीर के स्तर पर जी लेते हैं। उसने पशु से उठने की, एक स्तर को पाने की, एक अर्थ ढूंढ़ने की बार-बार कोशिश की है और बार-बार पाया है कि वह एक ऐसी व्यवस्था का शिकार है जहां दाल-रोटी का संघर्ष नियति बन जाता है, जहां पानी की समस्या तनाव की स्थिति बन जाती है, जहां व्यक्ति किन्हीं अदृश्य-अनाम चोटों से निरन्तर विघटित होता रह जाता है।

मिल उसके घर से कुछ ही दूरी पर है जिसके दफ्तर में वह काम करता है। काम पर जाने का कोई उत्साह उसमें नहीं रहता। धीरे-धीरे कदम घसीटता वह दफ्तर पहुंचता है और कुर्सी घसीटकर उसपर बैठते अपनी घिसटती ज़िन्दगी को सोचने लगता है। दफ्तर के कमरे में भी कर के बोरे भरे रहते हैं और कमरा कुछ चेहरों से भी भरा होता है। किन शकर के बोरों और चेहरों से घिरे होने पर भी वह अपने आप अकेला पाता है। चेहरे—और चेहरे···थके, उदास चेहरे···परेशान, ले चेहरे···एक-दूसरे से अजनबी, कटे चेहरे। शर्माजी, महेश, , सक्सेना और यह नया मुर्गा सुधीर, नया-नया है न, तभी ज़रा है। ठहरो बेटा, तुम भी कहां बचोगे? 'चलती चाकी देखि कै कबीरा रोय, दुइ पट भीतर आइ के साबित बचा न कोय'—कबीर सार्थक और कुछ नहीं कहा, वह गहरी ठण्डी सांस लेकर सोचता भी वह भी सुधीर जैसा था···और अब? अब वह चलती चाकी म सत्य को मर-मरकर जी चुका है। सुधीर से उसे ईर्ष्या भी उसपर प्यार भी आता है—काश, सुधीर के चेहरे की रौनक सके!

भीड़ में एक चेहरा उसका अपना भी है। तीखी नाक और आंखों के बावजूद यह चेहरा प्रभावहीन है। छत्तीस वर्ष की नोच-खसोट इस चेहरे पर गहरी लकीरों में उभर आई है। ी एक अस्तित्व देने की उसने अनेक असफल कोशिशें की हैं।

अब शेव करते समय आईने में इस चेहरे को देखते वह तिक्त हो उठता है —साले, कुत्ते-बिल्लियों की भी कोई पहचान होती है क्या !

रह-रहकर मिल से दुर्गन्ध उठती है—असह्य घिनौनी दुर्गन्ध । शुरू में इस दुर्गन्ध से उसे मितली आ जाया करती थी, अब जैसे वह इस दुर्गन्ध का भी आदी हो गया है । दर्द का हद से गुजर जाना दवा हो जाना है'''वह शायराना अन्दाज में सोचता है । यह मिसरा उसे बहुत अच्छा लगता है । कभी वह अधखुली आंखों से आकाश की ओर देखते यह मिसरा गुनगुनाया करता था'''अब यह मिसरा मिल की दुर्गन्ध के संदर्भ में उसके ओठों पर आता है तो उसे लगता है दर्द, दुर्गन्ध के दर्द को भी क्या किसी शायर ने रियलाइज किया होगा !

हर सवेरे वह एक मुश्किल में पड़ जाता है । दस परिवारों के बीच केवल दो शौचगृह हैं । वहां भी 'क्यू'-सी लगी रहती है । दुर्गन्ध के भभके उठते रहते हैं । बाहर धीरे-धीरे सवेरे का उजास फूटता होता है, सवेरे की ताजगी बिखरती होती है, एक नया दिन जागता होता है । भीतर वह बार-बार सिगरेट पीता हाजत को दबाता गालियां दुहराता होता है । प्राकृतिक जरूरतों के लिए भी यह मुश्किल'''उसका जी चाहता है वह आक्रामक हो जाए'''दो-चार के सिर फोड़ दे, कुछ तो भीड़ कम हो ! पत्नी चाहती है, घर में नल हो । वह चाहता है, घर में एक अपना शौचगृह भी हो, साफ-सुथरा, जहां से दुर्गन्ध के भभके न उठते हों, जहां इन्सानों की तरह'''लेकिन न पत्नी को नल मिला न उसे ऐसा शौचगृह मिलेगा । हाजत दबाते-दबाते उसे कब्ज रहने लगा है ।

दफ्तर में अपनी कुर्सी से चिपके रहने के लिए उसे लगातार प्रयत्न करना पड़ता है । किसी-किसी दिन भीतर का विद्रोह इतना प्रबल हो उठता है कि वह बार-बार दरवाजे से बाहर निकल भागना चाहता है । वह उठता है, सेक्शन से बाहर जाता है, फिर पेशाब करके शिथिल-सा लौट आता है । कहां जाएगा वह ? जा ही कहां सकता है ? फाइलों पर झुकी उसकी आंखों के आगे अक्षर धब्बे बनकर फैलने लगते हैं । धब्बे बड़े होने लगते हैं या उसकी आंखें ही धुंधलाने लगती हैं ! वह बार-बार चश्मा पोंछता है । बी० ए० की डिग्री उसकी धुंधलाती आंखों

में कौंधने लगती है। कैसा भोला विश्वास था उसका। बी० ए० करते वह सोचा करता था कि एक तिलस्म की चाबी उसके हाथ लगी जा रही है। बी० ए० की डिग्री उसे एक अच्छा जीवन निश्चय ही देगी। लेकिन उसका वह भोला विश्वास कितना ठगा गया है। यह नौकरी दिला सकी बी० ए० की डिग्री उसे। केवल एक नौकरी, और कुछ नहीं। एक भीड़ की धकापेल में वह जैसे डिग्री के आधार को पकड़कर लटक गया है ···और बस, यही लटक जाना मिल पाया है उसे।

खैर, आज तो तनख्वाह का दिन है। तनख्वाह उसे मिल चुकी है। आज वह कम थका है। आज मिल से दुर्गन्ध भी कम उड़ी है। कच्ची नींद से जगाए जाने का अहसास अभी भी उसकी आंखों में है, लेकिन आज इस अहसास को वह एक फिलॉसफी से जीत लेगा। चलो जो है सब ठीक है···तत्त्व-चिन्तक और विचारक कहते हैं—सन्तोष में सुख है ···उसे भी सन्तोष करना चाहिए कि चलो पेट तो भर रहा है, घर है, पत्नी है, बच्चे हैं···

घर, पत्नी, बच्चे ? उसके दिमाग में हथौड़े से बजने लगते हैं।

घर ? दो कोठरियों वाला सीलन-भरा माहौल, जहां गीली लकड़ियों का धुआं उठा ही करता है, जहां न अपना नल है, न अपना शौचगृह।

पत्नी ? मैली साड़ी में लिपटी, बाल बिखराए एक नारी-शरीर, जिससे एकात्मता के प्रयास में वह टकराता रह गया है। पत्नी उसके लिए दाल-रोटी का पर्याय बन गई है जिसे पेट भरने के लिए खाना तो पड़ता है लेकिन जिसमें कोई तृप्ति नहीं होती।

और बच्चे ? हर दूसरे वर्ष प्रकट होने वाला एक जीव। तीन मर गए, तीन हैं। हर बार गर्भ ठहर जाने पर पत्नी गर्भ की सूचना देते उसे जलती आंखों से घूरती रही है। और अपराधी-सा वह सोचता रहा है कि नये बच्चे के आने पर और किस खर्च में कटौती करनी पड़ेगी। बच्चे खर्च में कटौती के पर्याय बनते रहे हैं।

लेकिन नहीं, आज यह सब नहीं···शाम हो गई है। वह घर लौट रहा है। जेब में रखी तनखाह की गर्मी से उसके खून में रवानगी है।

वह तरल होने लगा है। उसके कदम हल्के पड़ रहे हैं। उसे अच्छा-अच्छा-सा लग रहा है। वह देखता है, पश्चिम का आकाश सांझ के रंगों से रंगीन हो उठा है। पक्षियों के झुंड उड़े जा रहे हैं। रास्ते में शराब का ठेका आ रहा है—आज वह कतई नहीं पिएगा, हो सका तो आज से पिएगा ही नहीं। वह ठेके के सामने से विजयी भाव से गुजर जाता है। वह पत्नी के लिए फूलों की वेणी खरीदता है। बच्चों के लिए चाकलेट लेता है। कब से उसने पत्नी को साफ साड़ी पहने, वेणी लगाए नहीं देखा। बच्चों को प्यार किए भी कितना समय बीत गया। कोई भूला गीत गुनगुनाता वह घर पहुंचता है।

बाहर से ही सुनता है, पत्नी कर्कश स्वर में चीख रही है। शायद बेटी को पीट रही है। 'कम्बख्त कहां से फाड़ लाई फ्राक? एक ही तो फ्राक पहनने लायक था, उसका भी सत्यानास करके रख दिया।' पत्नी का कर्कश स्वर गूंज रहा है।

इस कम्बख्त को तो महाभारत मचाने के लिए कोई न कोई बहाना चाहिए—वह बेचैन होकर पत्नी के लिए सोचता है। उसके उत्साहित कदम शिथिल पड़ने लगते हैं। वह कोठरी में प्रवेश करता है। पत्नी महिषा बनी बेटी को पीट चुकी है। दोनों लड़के कोनों में दुबके हुए हैं। बड़ा बिना कमीज के नेकर पहने खड़ा है। छोटे की नाक बह रही है। कोठरी में कहीं उजास नहीं, लगता है जैसे कोठरी मैले अंधेरे में घुट रही हो।

नहीं, आज वह इस माहौल को बदलकर रख देगा—'क्या हो गया फ्राक फट गया तो, हम अपनी बेटी के लिए नया फ्राक ला देंगे।' वह बच्चों को चाकलेट देने लगता है।

'और तुम भी जरा नहाकर अच्छी-सी साड़ी पहन लो, चलो तुम्हें घुमा लाएं। मैं जरा हाथ धो लूं।' वह पत्नी से कहता है। उसके हाथ में चाकलेट लग गई है, शायद गर्मी से पिघल गई थी।

'नहाने को पानी कहां है?' पसीना पोंछती पत्नी धप से फर्श पर बैठ जाती है।

अभी सब ठीक हो जाएगा—सोचता वह हाथ धोने लगता है कि

में कौंधने लगती है। कैसा भोला विश्वास था उसका। बी० ए० करते वह सोचा करता था कि एक तिलस्म की चाबी उसके हाथ लगी जा रही है। बी० ए० की डिग्री उसे एक अच्छा जीवन निश्चय ही देगी। लेकिन उसका वह भोला विश्वास कितना ठगा गया है। यह नौकरी दिला सकी बी० ए० की डिग्री उसे। केवल एक नौकरी, और कुछ नहीं। एक भीड़ की धकापेल में वह जैसे डिग्री के आधार को पकड़कर लटक गया है ···और बस, यही लटक जाना मिल पाया है उसे।

खैर, आज तो तनख्वाह का दिन है। तनख्वाह उसे मिल चुकी है। आज वह कम थका है। आज मिल से दुर्गन्ध भी कम उड़ी है। कच्ची नींद से जगाए जाने का अहसास अभी भी उसकी आंखों में है, लेकिन आज इस अहसास को वह एक फिलॉसफी से जीत लेगा। चलो जो है सब ठीक है···तत्त्व-चिन्तक और विचारक कहते हैं—सन्तोष में सुख है ···उसे भी सन्तोष करना चाहिए कि चलो पेट तो भर रहा है, घर है, पत्नी है, बच्चे हैं···

घर, पत्नी, बच्चे ? उसके दिमाग में हथौड़े से बजने लगते हैं।

घर ? दो कोठरियों वाला सीलन-भरा माहौल, जहां गीली लकड़ियों का धुआं उठा ही करता है, जहां न अपना नल है, न अपना शौचगृह।

पत्नी ? मैली साड़ी में लिपटी, बाल बिखराए एक नारी-शरीर, जिससे एकात्मता के प्रयास में वह टकराता रह गया है। पत्नी उसके लिए दाल-रोटी का पर्याय बन गई है जिसे पेट भरने के लिए खाना तो पड़ता है है लेकिन जिसमें कोई तृप्ति नहीं होती।

और बच्चे ? हर दूसरे वर्ष प्रकट होने वाला एक जीव। तीन मर गए, तीन हैं। हर बार गर्भ ठहर जाने पर पत्नी गर्भ की सूचना देते उसे जलती आंखों से घूरती रही है। और अपराधी-सा वह सोचता रहा है कि नये बच्चे के आने पर और किस खर्च में कटौती करनी पड़ेगी। बच्चे खर्च में कटौती के पर्याय बनते रहे हैं।

लेकिन नहीं, आज यह सब नहीं···शाम हो गई है। वह घर लौट रहा है। जेब में रखी तनखाह की गर्मी से उसके खून में रवानगी है।

वह तरल होने लगा है। उसके कदम हल्के पड़ रहे हैं। उसे अच्छा-अच्छा-सा लग रहा है। वह देखता है, पश्चिम का आकाश सांझ के रंगों से रंगीन हो उठा है। पक्षियों के झुंड उड़े जा रहे हैं। रास्ते में शराब का ठेका आ रहा है—आज वह कतई नहीं पिएगा, हो सका तो आज से पिएगा ही नहीं। वह ठेके के सामने से विजयी भाव से गुजर जाता है। वह पत्नी के लिए फूलों की वेणी खरीदता है। बच्चों के लिए चाकलेट लेता है। कब से उसने पत्नी को साफ साड़ी पहने, वेणी लगाए नहीं देखा। बच्चों को प्यार किए भी कितना समय बीत गया। कोई भूला गीत गुनगुनाता वह घर पहुंचता है।

बाहर से ही सुनता है, पत्नी कर्कश स्वर में चीख रही है। शायद बेटी को पीट रही है। 'कम्बख्त कहां से फाड़ लाई फ्राक? एक ही तो फ्राक पहनने लायक था, उसका भी सत्यानाश करके रख दिया।' पत्नी का कर्कश स्वर गूंज रहा है।

इस कम्बख्त को तो महाभारत मचाने के लिए कोई न कोई बहाना चाहिए—वह बेचैन होकर पत्नी के लिए सोचता है। उसके उत्साहित कदम शिथिल पड़ने लगते हैं। वह कोठरी में प्रवेश करता है। पत्नी चण्डिका बनी बेटी को पीट चुकी है। दोनों लड़के कोनों में दुबके हुए हैं। बड़ा बिना कमीज के नेकर पहने खड़ा है। छोटे की नाक बह रही है। कोठरी में कहीं उजास नहीं, लगता है जैसे कोठरी गंदे अंधेरे में घुट रही हो।

नहीं, आज वह इस माहौल को बदलकर रख देगा—'क्या हो गया फ्राक फट गया तो, हम अपनी बेटी के लिए नया फ्राक ला देंगे।' वह बच्चों को चाकलेट देने लगता है।

'और तुम भी जरा नहाकर अच्छी-सी साड़ी पहन लो, फिर तुम्हें घुमा लाएं। मैं जरा हाथ धो लूं।' वह पत्नी से कहता है। उसके हाथ में चाकलेट लग गई है, शायद गर्मी से पिघल गई थी।

'नहाने को पानी कहां है?' पसीना पोंछती पत्नी धम से फर्श पर बैठ जाती है।

अभी सब ठीक हो जाएगा—सोचता वह हाथ धोने जाता है कि

भरा लोटा उसके हाथ से फिसल जाता है—'लुढ़का दिया न पानी, अरे, कितना नोचोगे तुम सब मुझे।' पत्नी चीख पड़ती है।

बाल बिखेरे चीखती पत्नी, कोठरी का घुटता अंधेरा, गन्दे-बिसूरते बच्चे—वह फिर लड़खड़ा जाता है। एक पागल आवेश उसके भीतर उछलता है। वह एकदम हिंस्र हो उठता है—खून कर दे वह साले इन सबका और चढ़ जाए फांसी, छुट्टी मिले।

तेज़ी से घूमकर वह पत्नी की पीठ पर एक लात जड़ता है। पत्नी फर्श पर लुढ़क जाती है और ऊंचे स्वर में रोने लगती है। चाकलेट खाते बच्चे सहम जाते हैं। छोटा मां पर गिरकर रोने लगता है। उसके आंसू बहती नाक में मिलकर एक हुए जा रहे हैं।

'साला कहीं भी चैन नहीं,' कहता वह जाने लगता है। पत्नी बढ़कर उसके पैर पकड़ लेती है—'न, मत जाओ, मत जाओ।'

'जाऊंगा, ज़रूर जाऊंगा, तेरे बाप का क्या इजारा है?' पत्नी को ढकेलता वह बढ़ जाता है।

अब वह रात गए लौटेगा, जब नशा उतरने लगेगा, पत्नी जानती है, और फिर माफी मांगेगा। लेकिन वह यह भी जानती है कि वह बार-बार माफी मांगेगा, बार-बार पीएगा।

शीर्षकहीन

वह किसी ओर देखता है तो लगता है वह कुछ और देख रहा है। चलता है तो लड़खड़ाता, बोलता है तो हकलाता। और हंसता है तो लगता है···रो रहा है।

इस समय वह घर से बाहर जाने के लिए निकला है। दरवाजे तक पहुंचता है तो सुनता है—'ज़रा सुनो!' यह उसकी पत्नी की आवाज़ है। आवाज़ बिलकुल उसकी पत्नी की है और यह 'ज़रा सुनो' उसकी पत्नी जब-तब उसपर फेंकती भी रहती है···। फेंकती इसलिए कि उसे पत्नी के क्रुद्ध शब्द प्रहारों जैसे लगते हैं। गोली जैसे नहीं, तीरों जैसे भी नहीं, जूतों जैसे। तब वह बिलकुल बेवकूफ जैसा महसूस करने लगता है। बेवकूफ या मृतप्राय···। जाने क्यों, बेवकूफ और मृतप्राय नितान्त विभिन्न अर्थों वाले शब्द होने पर भी उसे एक अर्थ वाले लगते हैं। मृतप्राय महसूस करते वह हर बार अपनेको समझाता है, वह बेवकूफ हो सकता है, मरा नहीं है। लेकिन वह स्वयं को जितना ही समझाए ये दोनों शब्द उसके निकट एक ही अर्थ में गड्डमड्ड होते रह जाते हैं।

पत्नी का 'ज़रा सुनो' सुनता वह खड़ा हो जाता है। मुड़कर नहीं देखता, सामने देखता खड़ा रहता है। अब पता नहीं, पत्नी क्या कहेगी, वह एक भय से कांपने-सा लगता है। जैसे 'बेवकूफ' शब्द उसे स्वयं का पर्याय लगता है; वैसे ही 'भय' शब्द पत्नी का पर्याय लगता है।

'देखो, अगर ला सको तो गेहूं लेते आना। आटा बिलकुल चुक गया है।' पत्नी उसके हाथ में थैला पकड़ा देती है।

'कैसे लाऊं?' वह हकलाता है।

'मुझे बेचकर···' पत्नी तेज़ हो जाती है।

'अच्छा···अच्छा···' वह जल्दी-जल्दी चलने लगता है। पेंट खिसकने लगती है। कब सिलवाई थी ? दो साल पहले। शायद वह अब दुबला हो गया है। यह पेंट बहुत ढीली हो गई है। पेंट ढीली हो गई है या वह ढीला हो गया है···। दुबला या ढीला···? वह फिर एक प्रश्न में उलझ जाता है।

वह सड़क पर आ गया है और सधे कदम रखने की कोशिश करता चलने लगता है। अब इन कदमों को भी ज़िद है। वह जितना चाहेगा कि ठीक से चले, ये कदम उसे उतना ही बेठीक चलाएंगे। पता नहीं क्यों—उसकी हर क्रिया, चाहे शारीरिक हो या मानसिक, कहीं गलत-सी होकर रह जाती है। धीरे-धीरे यह 'गलत' उसपर इतना हावी हो गया है कि अब उसकी एकमात्र अभिलाषा रह गई है कि कहीं क्षण-भर के लिए तो वह सही सिद्ध हो। इस 'गलत' को लेकर वह ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाया करता है···। कभी-कभी बहुत धीरे से कोई उसके कान में कहता है—'नहीं, तुम गलत नहीं हो।' किन्तु जब तक वह उस पुलक-भरे अहसास को पकड़ना चाहे, वह 'कोई' गायब हो जाता है और वह शून्य में टटोलता रह जाता है।

भरी सड़क पर चलते यह शून्यता का बोध उसे सबसे अधिक होता है। विशाल जनसमूह के बीच स्वयं को बहुत अधिक अकेला महसूस करता है। ऐसा क्यों होता है, वह सोचता है। हैं तो ये सब इंसान ही, उसके जैसे, फिर ये बेगानापन क्यों ?क्यों···सोचता वह पीछे से आती कार के नीचे आता-आता बचता है। कार सर्र से गुज़र जाती है। उधर से पुलिसमैन चिल्लाता है—'अबे, अन्धा है क्या—या मरना है।' वह पाता है कि वह सड़क के बीचोंबीच खड़ा है। पुलिसमैन ठीक कह रहा है, या तो वह अन्धा है या मरना चाहता है। सड़क के बीचोंबीच अपने आ खड़े होने को कोई कारण देता वह सड़क पार करता है और फुटपाथ पर चलने लगता है। चलो, आज कुछ तो हुआ, पुलिसमैन ही उसे देखकर चिल्लाया ! वह मुस्कराने की कोशिश करता है, कि पाता है, कहीं कुछ कचोटने लगा है। उसकी हर हंसी एक कचोट क्यों बन जाती है ? वह फिर एक चक्कर में उलझ जाता है।

धक्कर खाते, उसका ध्यान अपने जूतों पर केन्द्रित हो जाता है। कब लिए थे ये जूते? शायद एक साल से ज्यादा ही हुआ। आजकल जूते मजबूत नहीं बनते, वरना क्या इतनी जल्दी फट जाते! दो बार तो वह नया तल्ला लगवा चुका। जमाना ही बेईमान हो गया है। जूते वाले तक अपना काम ठीक से नहीं करते। अब यदि जूते मजबूत बनाए जाएं तो दो साल चलें, पैरों को कितना सुख रहे और पैसे भी कितने कम खर्च हों। अच्छा...क्या सचमुच ऐसा नहीं हो सकता कि सारा जमाना बदल जाए...सबके पैरों में एक-से जूते हों, शानदार! वह सामने पड़ने हर पैर को देखने लगता है—इसके पैर में सैण्डिल हैं, ये टाट के जूते पहने हैं, ये चप्पल फटफटाते दौड़ रहे हैं...यह महिला ऊंची एड़ी खट-खटाती चल रही है...ये पैर नंगे है, बिवाइयों से भरे...। अरे, ये कैसे विचित्र पैर हैं? वह रुक जाता है। आंखें मिचमिचाता है। ये अजीब-से पैर, ये लोहे के जूते...लेकिन ये पैर भी तो अजीब हैं! वह पैरों से ऊपर दृष्टि उठाता है—'अरे, यह तो घोड़ा है...! मैं भी कैसा गधा हूं!' वह हंस पड़ता है। उसे लगता है, वह स्वयं घोड़े से गधा बन गया है। उसकी हंसी को फिर कोई डंक लगता है। एक बार उसे बिच्छू ने काटा था, बिलकुल उसके डंक जैसा। वह कराहना चाहता है, कराहता नहीं, पसीना पोंछता बढ़ जाता है।

बारिश के महीने भी कितने गर्म हो जाते हैं। कभी इतना पानी कि ठंड लगने लगे। कभी ऐसी खिलखिलाती धूप कि खोपड़ी चिटकने लगे। आज तो उसकी खोपड़ी चिटकने लगी है, वह जल्दी-जल्दी चलने लगता है। जिस सेठ के पास वह खाता लिखता है, उसकी खोपड़ी आज वह चिटका देगा।

वह मैट्रिक के आगे नहीं पढ़ सका, पढ़ना चाहा भी नहीं। ठीक यही वह जिन्दगी के बारे में सोचता है कि वह नहीं जी सका है, जीना चाहा भी नहीं...फिर क्यों जिए जा रहा है...? शायद इसलिए कि जिन्दा न रहना उसके वश में नहीं है। कई बार उसने मर जाना चाहा है। कल्पना की है कि वह कुएं में कूद पड़ा है, आग लगा ली है या चूहे मारने वाली दवा खा ली है। और वह मर गया है...लेकिन जैसे जिन्दा

'अच्छा···अच्छा···' वह जल्दी-जल्दी चलने लगता है। पैंट खिसकने लगती है। कब सिलवाई थी ? दो साल पहले। शायद वह अब दुबला हो गया है। यह पैंट बहुत ढीली हो गई है। पैंट ढीली हो गई है या वह ढीला हो गया है···। दुबला या ढीला···? वह फिर एक प्रश्न में उलझ जाता है।

वह सड़क पर आ गया है और सधे कदम रखने की कोशिश करता चलने लगता है। अब इन कदमों को भी ज़िद है। वह जितना चाहेगा कि ठीक से चले, ये कदम उसे उतना ही बेठीक चलाएंगे। पता नहीं क्यों—उसकी हर क्रिया, चाहे शारीरिक हो या मानसिक, कहीं गलत-सी होकर रह जाती है। धीरे-धीरे यह 'गलत' उसपर इतना हावी हो गया है कि अब उसकी एकमात्र अभिलाषा रह गई है कि कहीं क्षण-भर के लिए तो वह सही सिद्ध हो। इस 'गलत' को लेकर वह ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाया करता है···। कभी-कभी बहुत धीरे से कोई उसके कान में कहता है—'नहीं, तुम गलत नहीं हो।' किन्तु जब तक वह उस पुलक-भरे अहसास को पकड़ना चाहे, वह 'कोई' गायब हो जाता है और वह शून्य में टटोलता रह जाता है।

भरी सड़क पर चलते यह शून्यता का बोध उसे सबसे अधिक होता है। विशाल जनसमूह के बीच स्वयं को बहुत अधिक अकेला महसूस करता है। ऐसा क्यों होता है, वह सोचता है। हैं तो ये सब इंसान ही, उसके जैसे, फिर ये बेगानापन क्यों ?क्यों···सोचता वह पीछे से आती कार के नीचे आता-आता बचता है। कार सर्र से गुज़र जाती है। उधर से पुलिस-मैन चिल्लाता है—'अबे, अन्धा है क्या—या मरना है।' वह पाता है कि वह सड़क के बीचोंबीच खड़ा है। पुलिसमैन ठीक कह रहा है, यां तो वह अन्धा है या मरना चाहता है। सड़क के बीचोंबीच अपने आ खड़े होने को कोई कारण देता वह सड़क पार करता है और फुटपाथ पर चलने लगता है। चलो, आज कुछ तो हुआ, पुलिसमैन ही उसे देख-कर चिल्लाया ! वह मुस्कराने की कोशिश करता है, कि पाता है, कहीं कुछ कचोटने लगा है। उसकी हर हंसी एक कचोट क्यों बन जाती है ? वह फिर एक चक्कर में उलझ जाता है।

चक्कर खाते, उसका ध्यान अपने जूतों पर केन्द्रित हो जाता है। कब लिए थे ये जूते? शायद एक साल से ज्यादा ही हुआ। आजकल जूते मजबूत नहीं बनते, वरना क्या इतनी जल्दी फट जाते! दो बार तो वह नया तल्ला लगवा चुका। जमाना ही बेईमान हो गया है। जूते वाले तक अपना काम ठीक से नहीं करते। अब यदि जूते मजबूत बनाए जाएं तो दो साल चलें, पैरों को कितना सुख रहे और पैसे भी कितने कम खर्च हों। अच्छा…क्या सचमुच ऐसा नहीं हो सकता कि सारा जमाना बदल जाए…सबके पैरों में एक-से जूते हों, शानदार! वह सामने पड़ते हर पैर को देखने लगता है—इसके पैर में सैण्डिल हैं, ये टाट के जूते पहने हैं, ये चप्पल फटफटाते दौड़ रहे हैं…यह महिला ऊंची एड़ी खट-खटाती चल रही है…ये पैर नंगे हैं, बिवाइयों से भरे…। अरे, ये कैसे विचित्र पैर हैं? वह रुक जाता है। आगे मिचमिचाता है। ये अजीब-से पैर, ये लोहे के जूते…लेकिन ये पैर भी तो अजीब हैं! वह पैरों से ऊपर दृष्टि उठाता है—'अरे, यह तो घोड़ा है…! मैं भी कैसा गधा हूं!' वह हंस पड़ता है। उसे लगता है, वह स्वयं घोड़े से गधा बन गया है। उसकी हंसी को फिर कोई डंक लगता है। एक बार उसे बिच्छू ने काटा था, बिलकुल उसके दर्द जैसा। वह कराहना चाहता है, कराहना नहीं, पसीना पोंछता बढ़ जाता है।

बारिश के महीने भी कितने गर्म हो जाते हैं। कभी इतना पानी कि ठंड लगने लगे। कभी ऐसी चिलचिलाती धूप कि खोपड़ी चिटकने लगे। आज तो उसकी खोपड़ी चिटकने लगी है, वह जल्दी-जल्दी चलने लगता है। जिस सेठ के पास वह खाता लिखता है, उसकी खोपड़ी आज वह चिटका देगा।

वह मैट्रिक के आगे नहीं पढ़ सका, पढ़ना चाहा भी नहीं। ठीक यही वह जिन्दगी के बारे में सोचता है कि वह नहीं जी सका है, जीना चाहा भी नहीं…फिर क्यों जिए जा रहा है…? शायद इसलिए कि जिन्दा न रहना उसके वश में नहीं है। कई बार उसने मर जाना चाहा है। कल्पना की है कि वह कुएं में कूद पड़ा है, आग लगा ली है या चूहे मारने वाली दवा खा ली है। और वह मर गया है…लेकिन जैसे जिन्दा

रहने की कोई अनुभूति उसके पास नहीं है, वैसे ही मृत्यु भी एक काल्पनिक शगल बनकर रह जाती है। हां, मृत्यु की कल्पनाओं को वह अपना 'शगल' कहता है और कम से कम 'शगल' शब्द का अर्थ वह ठीक-ठीक जानता है।

उसका दूसरा शगल है, यह सोचते रहना कि आखिर वह जिन्दा क्यों है ? अरे, बाल-बच्चों के लिए है, पत्नी के लिए है···। और क्यों ···। और ये हजारों क्यों जिन्दा रहते हैं···? वह किंचित् गर्वित हो उठता है कि आखिर उसकी ज़िन्दगी का कोई अर्थ तो है। लेकिन यह अर्थ उसके आसपास बहुत कम टिक पाता है। आधा महीना बीतते न बीतते पहले दाल बनना बन्द होती है, फिर रोटियां। पत्नी का मुंह सूजा रहने लगता है। चारों बच्चे रोटी पर लड़ने-झगड़ने लगते हैं। दो कोठरियों वाला घर और अंधेरा हो जाता है। जब ऐसे और खिचना असम्भव हो जाता है तो वह चुपचाप अपने सेठ के गोदाम में घुसता है और एक सिद्धहस्त चोर के समान इतना गेहूं-चावल हथिया लेता है कि फिर कुछ दिन काम चल सके। बच्चों में रोटियों पर लड़ना-झगड़ना बन्द हो जाता है। घर में चूल्हे की आग का उजाला हो जाता है और पेट भरा होने से सबको नींद भी अच्छी आती है। लेकिन, ऐसी रोटियां जब वह खाता होता है तो पत्नी की तरफ नहीं देखता। वह भी उसकी तरफ नहीं देखती···। बस, कभी-कभी 'हे राम' इतने उच्च स्वर में कहती है कि वह 'हे राम' उसके भीतर छुरी-सा धंस जाता है। इस छुरी को वह धंसा रहने देता है और मन ही मन एक अनकहे दर्द से कराहता रहता है।

चलते-चलते एक गली में जरा-सा मुड़कर वह पेशाब करने लगता है। ऐसे गलियों में खड़ा होकर पेशाब करना उसे इतना बुरा लगता है कि वह चाहने लगता है कि अपने ही तमाचों से अपना मुंह लाल कर ले। यह तमाचों वाली बात भी उसके अन्दर धीरे-धीरे भरती गई है···। उसे लगता है अब उसने 'एडजस्ट' करना सीख लिया है जिन्दगी से। जो ज़िन्दगी से 'एडजस्ट' नहीं कर पाते हैं, वे पागल हो जाते हैं, उसने सुना है। 'दुनिया की रीत' को निभाना सीखते वह गरदन झुकाता गया

है और अब तो उसकी गरदन इतनी झुक चुकी है कि वह आकाश को नहीं, पाताल को ही देख पाता है।

आज उसका सेठ का खाता निखने जाने का बिल्कुल मन नहीं है। क्या कर लेगा साला सेठ भी ? दो-चार गालियां ही तो देगा। अब इतनी कम तनखाह में और कोई तो उसे मिल भी नहीं सकता। सहसा वह सुख हो उठता है कि अब बिना काम के एक पूरा दिन उसके सामने है। क्या करेगा वह ? सिनेमा देखेगा ? नहीं, उतने पैसे नहीं हैं। चाट खाएगा ? नहीं, यह भी नहीं, अकेले चाट खाते पत्नी और बच्चे याद आएंगे। तो फिर···वह उस मैदान की ओर बढ़ने लगता है जहां पिछले सप्ताह गांधीजी की प्रतिमा स्थापित की गई थी और उसका जलसा हुआ था।

उसका ध्यान हाथ में लटके खाली थैले पर जाता है। पत्नी ने कहा था, गेहूं लेते आना···। कहा करे···अब आज तो वह कुछ नहीं करेगा। खाली थैला लटकाए वह गांधी की प्रतिमा के सामने खड़ा हो जाता है। इस समय मैदान सूना है···। गांधी का बुत चुपचाप खड़ा है···। धूप इतनी तेज है कि उसे लगता है उसकी खोपड़ी के साथ बुत की खोपड़ी भी चिटकने लगेगी···

खिसकती पैंट को ऊपर करते वह आकाश की ओर देखता है···। फिर बुत की ओर, फिर अपनी ओर···। उसे जाने क्या-क्या याद आता जा रहा है···

दो वर्ष पहले उसने नसबन्दी कराई थी। सरकार की तरफ से इन्त-जाम था तो वह भी पहुंच गया था। डाक्टर के सामने पैंट उतारते वह जरा घबराने लगा था, तो सुना था, 'क्यों, परेशान क्यों हो ? कोई बीमारी है क्या ?'

'मैं बाजारू औरतों के पास नहीं जाता।' उसने जरा तनकर कहा था।

'कितने बच्चे हैं ?' डॉक्टर अपना काम करने लगा था।

'चार।' वह तना हुआ था।

'और पहले नहीं रुक सकते थे ? गिना नहीं सकते, पैदा करते चले

जाते हैं ।' डॉक्टर ने हिकारत से कहा था।

और उसने पाया था कि वह एकदम ढीला हो गया है। ढीला और बेदम, दम निकले मुर्गे-सा...। हवा में उलटा लटका हुआ है...। उसकी कलंगी उलटी हो गई है...। और उसकी टांगें धरती पर नहीं, हवा में उठी रह गई हैं...।

ऑपरेशन टेबुल से उतरते वह बेदम हो गया था...। हां, खिला नहीं सकता, बस पैदा करता चला गया है...। कितना बेगैरत है वह ! उसे लगा था, वह डॉक्टर के सामने ही नहीं, सारे जमाने के सामने नंगा हो गया है।...फिर वह जाने कैसे घर पहुंचा...। रात को सोते चारों बच्चों को आंखें गड़ा-गड़ाकर देखता रहा...। अब कोई पांचवां नहीं आएगा। उसका वश चले तो वह पूरे बारह पैदा करे और उन्हें पालकर भी दिखा दे...! वह चीख पड़ना चाहता है...। किन्तु हाथ में पकड़ा खाली थैला हिलकर उसे सन्तुलित कर देता है...। गांधी का बुत वैसा ही खड़ा है।

उसे याद आता है, सत्रह-अठारह का रहा होगा। मैट्रिक का रिजल्ट आने वाला था और वह निश्चिन्त था, पास हो या फेल, उसे आगे पढ़ना ही नहीं है। मां-बाप उसे जी भरकर गालियां देते, वह सिर झुकाए सुनता, बाहर निकल जाता।

उस शाम, मां पड़ोस के कीर्तन में गई थी। वह घर में अकेला था। वह आई...। सोलह वर्ष की वह लड़की, एकदम काली थी। पड़ोस में रहती थी। उसकी मां से आटा मांगने आई थी। लड़की ने पूछा था—'चाची नहीं हैं ?' उसने सिर हिला दिया था नहीं हैं। उस लड़की ने भीतर आकर सिटकनी लगा दी थी और उसका हाथ पकड़कर उसे कोठरी में ले गई थी। लड़की ने ही उसे खाट पर खींच लिया था...। वह एकदम काली थी, किन्तु किसी रस से भरी-सी !

कुछ देर बाद जब वह उस लड़की से अलग हुआ तो होश में नहीं था। 'चाची आ जाएगी...मैं फिर आऊंगी...।' कहती वह लड़की भाग गई थी।

रात उसने मां से कहा था—'मां, पैर दबा दूं ?' असल में वह मां के

पैरं दबाते हुए चांद को देखना चाह रहा था। मां आंगन में सोती थी। वह कोठरी में सुलाया जाता था। आज वह जाने क्यों चांद को देखना चाहने लगा था!

मां बोली—'अरे वाह रे श्रवणकुमार! चल जा, सो जा, मुझे नहीं दबवाने हैं पैर-वैर।'

वह कोठरी में चला गया था, लेकिन उस रात सो नहीं सका था। सोचता रह गया था, क्या वह काली लड़की उसके साथ इस कोठरी में रहने आ सकेगी? उसीकी बिरादरी की तो है। धीरे से बात चलाएगा। उसने सोती बहन को हिलाया—'देख री श्यामा, बाहर कितनी चांदनी है आज।'

'तू ही देख, मुझे सोने दे।' बहन भनभनाती सो गई थी।

उसकी देह में कुछ तृप्त हो गया था। देह से परे कोई प्यास जाग गई थी।

घर के पड़ोस में ही रहने वाले दोस्त को उसने अपना इरादा बताया कि वह उस काली लड़की से ब्याह करना चाहता है। दोस्त हंसा—'अरे, उस मोहिनी से! वह तो कई बार मेरे साथ···'

वह स्तब्ध रह गया। कोई बोध उसके भीतर जागा था···। और जैसे तुरन्त उस बोध का दम घुट गया हो···। वह काली लड़की··· मोहिनी! वह किसी रस से भरी-सी···। वह उसे अपनी कोठरी में अपनी खाट पर लाने के सपने देखने लगा था···। क्यों·· क्यों···? उस काली लड़की के साथ कुछ क्षण बिताने के बाद उसे चांद और उजला लगने लगा था···। उसने दो-चार दिन में अपने उन सपनों को चांद के साथ तोड़-मरोड़कर, घूरे में फेंक दिया। अब वह घूरे के पास से गुजरता बार-बार थूकने लगा था। उसका जी चाहता था, वह उस काली लड़की का खून कर दे। उसके बाद वह बीड़ी पीने लगा था। एक वर्ष बाद उसका ब्याह हो गया। ब्याह क्या, मां ने एक सौदा किया था। दो हजार नकद और तीन हजार का सामान लेकर एक लड़की आई। इस बन्दोबस्त से उसकी बहन श्यामा का ब्याह भी हो गया और श्यामा चली गई। मां-बाप ने चैन की सांस ली।

अंधेरी कोठरी में उसके साथ एक खाट पर सोने वाली वह लड़की उस काली लड़की जैसी रसीली नहीं थी, किन्तु उसकी एकदम अपनी थी। वह उसके साथ खुश होने की कोशिश कर रहा था। यद्यपि 'खुशी' का कोई ठीक-ठीक अहसास भी उसके निकट स्पष्ट नहीं था। वह सोता-जागता खुश होने का एक नाकाम प्रयास कर रहा था।

अब उसे नौकरी भी चाहिए थी, जीने का कोई आधार। बच्चे पैदा होने लगे थे। वह जूतियां चटखाता चक्कर लगाने लगा। अक्सर सुनता—बी० ए० पास को तो काम मिलता नहीं, इन्हें कैसे मिलेगा! केवल मैट्रिक पास कर पाना उसका दोष बन गया था। लेकिन बी० ए० पास को ही कौन-सा काम मिल जाता है? अरे, जिन्हें मिलना है, उन्हें ही मिलता है···। वह महलों से झोंपड़ियों तक नज़रें घुमाता नियतिवादी बनने लगा था। ऊपर से वह शान्त रहता, मन में बेशुमार गालियां बकता होता।

तभी सेठ से भेंट हुई। सेठ ने उससे पहला सवाल पूछा—'इतनी कम तनख्वाह पर काम कर सकोगे?' 'कर सकूंगा'। और कुछ कहना चाहते अपने होंठ भीच लिए।

सेठ ने दूसरा सवाल किया, 'बेईमानी कर सकोगे?' 'कर सकूंगा।' उसने फिर कहा।

'वेरी गुड!' सेठ ने कहा, 'तुम्हें सिर्फ इतनी बेईमानी करनी है कि हमारे मामलों में अपने ईमान की टांग नहीं अड़ानी है···और अगर टांग अड़ाई तो याद रखना···टांग तोड़ दी जाएगी!' आंखें लाल करते सेठ चुप हो गया। एक आह दबाते वह भी चुप हो गया था। नौकरी मिल गई थी। खाता लिखते-लिखते अक्सर वह अपनी टांग और आटे के रिश्ते को जोड़ता-तोड़ता रहता और एकदम खामोश बना रहता।

धीरे-धीरे मां-बाप मर गए। और एक के बाद एक चार बच्चे उसके उसी आंगन में खेलने लगे, जहां कभी उसने मां का पैर दबाते चांद को देखना चाहा था···। अब वह बारहों महीने कोठरी में घुसा सोता था। पत्नी कभी खुले में सोने को कहती तो सहसा चीख पड़ता—'मुझे अंधेरे में नींद अच्छी आती है!'

एक बार उस काली लड़की जैसी कोई खोजने वह उस बदनाम मुहल्ले में पहुंचा, जहां लड़कियां खरीदी जाती हैं। एक जीना चढ़ा भी, फिर सहसा लौट पड़ा। जीना उतरते उसने सुना—'वाह रे मरदुए! फिर क्यों आया था? अरी देख कैसा दुम दबाकर भाग रहा है'''।' उस दिन के बाद किसी भी दुम दबाये कुत्ते को देखकर वह पत्थर फेंकने लगता।

आज सूने मैदान में, खाली थैला लटकाए, गांधी के बुत के सामने खड़ा वह सोच रहा है—काश! उसे कोई 'अपनी' जिन्दगी मिली होती। जिसके पहलू में वह पड़ा है, वह तो हरजाई जैसी है—कुत्सित, घृणित, स्वार्थी, सौदेबाज!

बस कहानी इतनी-सी ही है। खत्म हो गई।

शायद मेरे कोई सुधी पाठक पूछना चाहें—'लेकिन, आपके इस कथा-नायक का नाम क्या है?'

और मैं सोचती रह जाऊंगी—'इस जैसे जाने कितने हैं! फिर क्या नाम दूं इसे?'

आधुनिक

चौधरी हरभजन का आज हुक्का पीने में भी मन रम नहीं रहा। कभी चिलम ठीक से भरी नहीं लगती···कभी लगता यह तम्बाकू ही बेस्वाद है···कभी लगता वे कश ही ठीक से खींच नहीं पा रहे हैं···। मन आकाश में मंडराते पंछी-सा हो रहा है···और धूप है कि सामने खड़े नीम के वृक्ष की फुनगी पर चढ़ आई है···बारह बजने को आए···डाकिये का पता नहीं···कमबख्त ये डाकिया ससुरा भी बड़ा इन्तज़ार करवाता है। लाख कहा···हमारे नाम की चिट्ठी हो तो पहले दे जाया कर। कई बार इनाम-इकराम भी दिया···लेकिन ये कमबख्त देर लगाकर ही आएगा···कुछ कहो तो कहेगा—'हलफ से चौधरी हुजूर···आपका खत देखते ही सीधा आपके पास दौड़ता हूं···' फिर हांफ-हांफकर सांस लेता पसीना पोंछने लगेगा। 'सच ही तो···बेचारा दौड़ता आता है!' चौधरी पिघल जाते हैं—'चौधराइन, ज़रा इस डाकिये के लिए शरबत भेज देना···' भीतर से उत्तर आता है—'शरबत लाय रही हूं, सुधीर की चीठी आई है का?'

लेकिन कहां आती है सुधीर की चिट्ठी—? महीने में एक-दो बार से अधिक नहीं···बस, इन्तज़ार रोज़ बना रहता है। कभी-कभी तो महीने से भी ऊपर हो जाते हैं। तब बूढ़ा डाकिया भी अपराधी-सा हो उठता है—'चिट्ठी तो है हजूर, लेकिन भैया की नाहीं···' और वह बिना चौधरी से नज़र मिलाए, चिट्ठी चौधरी के सामने चौकी पर रखकर, चुपचाप चला जाता है।

चौधरी हरभजन और डाकिया फखरुद्दीन साथ-साथ जवान और बूढ़े हुए। चौधरी को याद हैं—बच्चे थे, तो चौधरी पतंग उड़ाते थे, फखरू

उनकी डोरवाली चरखी पकड़ता था। अगर दूसरे की पतंग कटती तो चौधरी और फक्करू एक साथ चीखते—'वो काटा'''!' लेकिन अगर बालक चौधरी की पतंग कट जाती, तो वह उलटकर फक्करू की पीठ पर एक धौल जड़ देता—'साले, पतंग कटवा दी, जरा-सी चरखी ठीक से पकड़ी नहीं जाती !' घी-दूध खाने से पुष्ट, हरभजन के हाथ का एक धौल खाते दुबले-पतले मरियल फक्करू की पीठ चरमरा जाती'''ठीक से तो पकड़े रहे भैया'''तीन पतंग तो तुम काट चुके, चौथी बेर तुम्हारी कट गई तो हमका पीट रहे हो''' फक्करू मैले कुरते की आस्तीन से आँखें पोंछने लगता। हरभजन को जैसे सहसा कुछ याद आ जाता—'अरे फक्करू, चल आज तुझे जलेबी खिलाऊँ'''गरमा-गरम'''मेरा भी बड़ा मन कर रहा है।' फक्करू समझ जाता, 'हरभजन भैया धौल का प्रायश्चित्त जलेबी खिला-कर करना चाह रहे हैं'''एक, धौल की तुलना में पेट-भर गरमा-गरम जलेबियाँ'''? तो धौल रोज लगा लिया करो भैया।' फक्करू कहना चाहता '''किन्तु अप्रकट में धौल और जलेबियों का रिश्ता, प्रकट में अनकहा रहा आया।

कभी-कभी, स्वयं से दो-तीन साल छोटे फखरुद्दीन डाकिये को देखते, चौधरी हरभजन की आँखों में जीवन के सारे प्रहर चित्रों-से स्पष्ट हो उठते हैं—नई सुहानी भोर-सा बचपन, सपन्न पिता की एकमात्र सन्तान होने के कारण किसी भी विपन्नता से मुक्त ! फिर धीरे-धीरे जाड़े की दोपहर-सी चढ़ती युवावस्था'''शिराओं में प्रवाहित रक्त गुनगुनी ऊष्मा में मधुर आँच-सा तपने लगा था'''बिलकुल जाड़े की गुनगुनी, सुनहरी धूप-सा यौवन हरभजन की शिराओं में उतर आया था ! अखाड़े में कुश्ती लड़ते, मलाईदार आध सेर दूध दो बार पीते, युवक हरभजन की भुजाओं में मछलियाँ उभर आई थीं। पिता देखते तो गर्व से तन जाते, माँ छाती से चिपटाकर बलाएँ लेतीं—'मेरे लाल को कहीं किसीकी नजर न लग जाए'''!' किन्तु हरभजन का यौवन, बचपन-सा ही निर्दोष था'''गाँव की लड़कियों को वह आँख उठाकर न देखता, यदि कभी होली-दीवाली पर घिर जाता, तो वे छोकरियाँ नहीं झेंपतीं, हरभजन झेंप जाता, लाल सुर्ख़ होता। रिश्ते की एक भाभी ने एक बार होली पर, अठारह

वर्षीय हरभजन को कोठरी में घेरकर साकल चढ़ा दी थी, दरवाजे से पीठ सटाकर ढिठाई से बोली थी—'ए देवरजी ! इत्ते तगड़े हो, पूरे जवान हुए···और छोकरियों से ऐसे घबराते हो जैसे तुम छोकरी हो··· काहे ? आओ, तुम्हें जवानी का मतलब समझाएं, अरे, होली पर सब माफ है !'

'न, न···' कहते हरभजन को, उस भौजाई ने बांहों में जकड़ लिया था···हरभजन की शिराओं का रक्त भी उबाल खा गया···किन्तु, उसने विवेक नहीं छोड़ा—'हटो भौजी, छोड़ो, भौजी मां के बराबर होती है··· मेरी मर्दानगी देखना चाहती हो तो देवरानी ला दो, सच्चई भौजी, ला दो न, कोई अपनी जैसी···।'

हरभजन की अवहेलना में प्रशंसा भी थी। भौजाई गद्गद हो गई—'मान गई लाला तुम्हें ! नहीं तो भला इस कलयुग में कोई हाथ आया मौका छोड़ता है। करोगे मेरी बहन से ब्याह ? छुटकी मुझसे भी सुन्दर है। परन्तु, एक वचन दो, ब्याह हो जाए तो भी कभी छुटकी से आज की बात कहोगे नहीं।'

भौजाई की आंखें पनीली हो आई थीं···हरभजन ने वे आंसू पोंछ दिए—'वचन देता हूं भौजी, कोई नहीं जानेगा कभी भी यह बात। अब हंसो एक बार···तुम्हें हंसती देखने को जी चाह रहा है···हंसो··· हंसो···।' हरभजन भौजाई को गुदगुदाने लगा था, पीठ पर, ग्रीवा पर, बांहों पर···उन्नत वक्ष को छुए बिना···और वह सब कुछ 'गुनाह' बनते-बनते गुदगुदी बनकर रह गया था···

हरभजन ने बाद में सुना था कि वह भौजाई अपनी चंचलता और अन्य पुरुषों से सम्पर्क के कारण काफी 'सरनाम' थी !—वंकिम कटाक्षों की मोहिनी का वशीकरण लिए, जब वह स्वयं सामने आ खड़ी होती, तो पुरुषों के लिए उसे नकारना असंभव ही था···भला कोई पकवानों से भरी परोसी पत्तल छोड़ता है ! किन्तु, उस घटना के वर्ष-भर बाद, जब उसकी छोटी बहन से सचमुच हरभजन का ब्याह भी हो गया था, वह मिली तो सचमुच बदली हुई थी—कटाक्षों में वंकिमता नहीं, नारी-सुलभ आकर्षण का सहज सम्मोहन था···। उन कटोरे जैसी बड़ी-बड़ी

मांसों का मद मधु बन गया था···वह उन्नत वक्ष पर यौवन संभालना सीख गई थी, लाज से पलकें भुकाना भी ! हरभजन ने उमंग एकान्त में कहा—'जानती हो भौजी, अब तुम सचमुच कितनी सुन्दर लगती हो, अपनी बहन से भी जियादा !' तो उसने पलकें उठाईं, गिराईं, उनमें मोती भर आए थे—'तुम्हारे ही कारण लाला। नहीं तो मैं मुहजली जाने किसे पाप करती···।'

धीरे-धीरे समय की धूप चढ़ी, ढलने लगी। पिता की मृत्यु के बाद हरभजन 'चौधरी हरभजन' कहलाने लगे, हुक्का गुड़गुड़ाना सीख गए—गांव की पंचायत के सरपंच बना दिए गए···लेकिन चौधराइन को छोड़कर, उस भौजाई को छुटकी को छोड़कर, उनकी निगाह पर कोई औरत कभी नहीं चढ़ी···। वैभव था, बलिष्ठ शरीर था, सारे साधन थे···होली-दीवाली पर यार-दोस्तों की महफिल जुड़ती, तो प्रथा के अनुसार घुंघरू भी खनकते···कोई चम्पाबाई या चमेली जान घुंघरू खन-काती, पतली कमर लचकाती, शराबी श्रांखों के जाम भर-भरकर चौधरी पर लुढ़का देती···यार-दोस्त चुन-चुनकर 'चीज' लाते,···किन्तु चौधरी नीचे नजर किए गाना सुनते, उठती नजर से थिरकती परी को एकाध बार देख भी लेते—'इनका पूरा नेग दे देना मुनीमजी, मेरी तरफ से और एक गिन्नी भी···।' कहते सीधे अपने शयनकक्ष में पहुंचकर चौधरा-इन को दृढ़ आलिंगन में कस लेते। फिर सारी रात नहीं छोड़ते···

'अजीब मरदुआ है।' खिसियाती, चम्पाबाई या चमेली जान चली जाती। यार-दोस्तों के मुंह पर थप्पड़-सा पड़ता—'सचमुच अजीब है यह शख्स।' वे आपस में कहते जैसे अपने थप्पड़ खाए गाल सहलाने लगते—'अमा यार, अगर हमको इत्ता सब मिला होता न, इतनी जमीन-जायदाद, ऐसी जवानी···तो हम तो जिन्दगी का वो लुत्फ उठाते कि···।' प्रायः ऐसे वाक्य अधूरे रह जाते। चौधरी के कानों तक यह सब कुछ पहुंच जाता···ऐसे क्षणों में वह भौजाई चौधरी को अवश्य याद आती···और वे भौजाई की छुटकी बहन को ऐसे क्षणों में इतना कसते, इतना चूमते कि चौधराइन परेशान हो जाती—'ये तुम्हें कभी-कभी पागलपन का दौरा पड़ता है क्या जी, जो परेशान कर देते हो···। मैं कहीं

भागी जा रही हूं क्या ?'

चौधराइन कृष्णा सचमुच सुन्दर थीं—अंगों में लुनाई, आंखों में रस, अधरों में मधु। चौधरी ने जब पहली रात उन्हें देखा, तो एकदम देखते रहे···बिना छुए···हां, उठकर दीपक की बाती उकसा दी, और दीपक ऐसे स्थान पर रख दिया कि उसका प्रकाश नववधू के मुख पर भरपूर पड़ता रहे···और वे भरपूर दृष्टि, लाज से झुकी जाती वधू को एकटक देखते रहे···फिर बस, चिबुक पकड़कर वह अनछुआ मुख उठाया और एक अछूता चुम्बन वधू के अधरों पर अंकित कर दिया···यदि कृष्णा के अधर अछूते थे···तो हरभजन के होंठ भी···तभी, कदाचित् वह 'चुम्बन' इतना मुग्ध, इतना विभोर, इतना तन्मय हो सका था—'निर्दोष' होने के कारण ही।

दूसरे दिन दोस्तों ने छेड़ा—'क्यों गुरु, वात्स्यायन के कौन-कौन-से नुस्खे आजमाए कल रात ? सुना भौजी गजब की सुन्दर है।'

युवक हरभजन हंसे—सामने खड़े हरसिंगार के वृक्ष की ओर इशारा किया, रात-भर वे फूल झरते रहे थे···वृक्ष के नीचे उन फूलों की सेज-सी बिछ गई थी—'यार, तुम्हारी भौजाई गजब की सुन्दर भी है और गुरु वात्स्यायन से भी मैंने गुरु-दीक्षा ले ली है···लेकिन उधर देखो, उन फूलों की सेज को देखो···अभी तो उन्हें अंजलि से भर लिया है मैंने, रौंदा नहीं···लेकिन, यारो, तुम फूलों का अर्थ ही कहां समझते हो, जो उन्हें अंजलि में भरने या रौंदने का फर्क समझोगे···?' युवक हरभजन की आंखों में खुमार अवश्य था—किन्तु किसी नशे का नहीं, किसी पूजा-का-सा।

'लगता है भाई में कहीं कुछ गड़बड़ है।···' यार-दोस्त आपस में फुसफुसाते, जोर से कहने की हिम्मत उनमें नहीं थी। जानते थे, हरभजन अखाड़े में अच्छे-अच्छों को पछाड़ चुका है···हरभजन की भुजाओं में मछलियां उभरी हुई हैं, हरभजन का मस्तक दप्-दप् दमकता रहता है। 'अमां यार, यह साला हरभजन भी बिल्कुल अहमक है···सारी जवानी घर की जोरू पर लुटा रहा है···ऐसी जवानी, ऐसी जिन्दगी क्या बार-बार मिलती है ?'

किन्तु हरभजन पर तो जोश में ही मगन रहे, केवल कृष्णा की आंखों का रस, अधरों का मधु, छककर पीते रहे···अंग-अंग की सुनाई में आकंठ डूबने रहे··· और उस 'एकमात्रता' के सागर में जितना गहरा उतरते गए···उतने ही मोती बटोरते गए···। एक बार होली पर यारों ने भंग पिला दी, सोचा 'आज तो बेटा बहकेगा ही, गहरी पिलाई है···' हरभजन बहके भी, झूमकर बोले···'यारो, आज तो बस स्वर्ग का आनन्द आ रहा है, चारों ओर अप्सराएं ही अप्सराएं नजर आ रही हैं, मेनका, रंभा, उर्वशी···।' यारों ने एक-दूसरे को कोहनी मारी—'आखिर बेटा आ ही गए रंग पर।'

हरभजन झूमने लगे थे···मोतीबाई सचमुच अप्सरा थी, गजब का नाचती भी थी···तबला ठनक रहा था, घुंघरू छनक रहे थे, मोतीबाई का नशीला स्वर गूंज रहा था .

'झुमका गिरा रे, बरेली के बाजार में···।' यारों की महफिल झूम रही थी···हरभजन भी झूम तो उठे थे···किन्तु, नशे में उनकी आंखों में मोतीबाई का मुख मधु कृष्णा के मुख में गड्डमगड्ड हुआ जा रहा था···

मोतीबाई सम पर थम गई···अदाब करती बढ़ती हरभजन के निकट आई, गले में बाहें डाल दीं···आज हरभजन ने वे बांहें नहीं हटाई, मोतीबाई को भरपूर देखते उसकी कमर को हाथ से घेरते निकट खींच लिया।··· दोस्त उछल पड़े—'आज···आखिर भाई आ ही गया रंग पर···।'

हरभजन नशे में लाल आंखों से मोतीबाई को देख रहे थे—'दोस्तो, मोती बाई की शान में किसी बेवकूफ शायर का एक शेर अर्ज करता हूं :

दर्द की आग जिगर में लगी ता उम्र रहे
रोज नया ब्याह हो, मगर दुल्हन एक हो···'

फिर मोतीबाई को एक प्रबल झटके से दूर करते बोले, 'मुनीमजी, इस रंडी को आज एक नहीं पांच गिन्नियां दे देना···और आज के बाद कभी इस हवेली में रंडी का नाच नहीं होगा···मैं यह रस्म बन्द करता हूं···'

'ऐसा कैसे हो सकता है' बाप-दादों के ज़माने से चली आई रस्म को तुम कैसे बन्द कर सकते हो ?' मुंह लगे दोस्त श्यामलाल ने उठकर जाते हरभजन की बांह पकड़ ली। सारे यार-दोस्तों के चेहरे फक पड़ गए थे, मोतीबाई के चेहरे पर स्याही-सी पुत गई थी।

हरभजन ने श्यामलाल को भी एक प्रबल झटका दिया—'मैं मन्दिर के चढ़ावे की रस्म तो नहीं बन्द कर रहा···रंडी के नाच की रस्म बन्द कर रहा हूं···।'···अपमानित मोतीबाई और अवाक् दोस्तों को हतप्रभ छोड़कर हरभजन अपने शयन-कक्ष में जा घुसे···और चौधराइन को सेज पर खींचकर जो द्वार बन्द किया तो दूसरे दिन सवेरे ही खोला।

कृष्णा चिलमन की ओट से वह सारे दृश्य देखती रही थी···। जब सवेरा होने लगा, और हरभजन होश में आने लगे तो धीमे से बोली—'सुनो जी, मैं तो मूरख हूं, पढ़ी-लिखी भी नहीं, ऐसा कोई गुन भी नहीं मुझमें···फिर पता नहीं क्यों, सारी सामर्थ रखते तुम मुझपर ही मरे जाते हो। चौधरी खानदान के मर्द हो, एकाध शौक कर भी लो तो क्या ···मर्द को कोई दोष नहीं लगता···न मैं बुरा मानूंगी···क्यों मारते हो अपना मन···?' कृष्णा अपना कथन पूरा कर भी नहीं पाई थी कि हरभजन ने तड़ से एक थप्पड़ उनके कपोल पर जड़ दिया, पांचों उंगलियां साफ उभर आईं···कृष्णा सिसकने लगी थी···हरभजन कुछ देर क्रोध से थरथर कांपते रहे, फिर उसी थप्पड़ वाले कपोल को बेतहाशा चूमने लगे···'माफ करना चौधराइन। तीन बेटे जनकर भी तुम पगली ही हो···मुझे समझ नहीं पाईं···समझोगी भी नहीं···शायद समझ सकती भी नहीं···लेकिन, आइन्दा ऐसी बात की तो इतने थप्पड़ लगाऊंगा कि···' और···कृष्णा को अचानक सब कुछ समझ में आ गया ···थप्पड़ से चुम्बनों तक का वह अद्भुत 'अर्थ' सचमुच कृष्णा की समझ में आ गया···। हरभजन उनके सात भांवर वाले पति परमेश्वर तो थे ही···उस घटना के बाद जन्म-जन्मान्तर की कामना वाले अपूर्व हो गए। भोर की किरनों के साथ कृष्णा की सिसकियां तेज़ हो गईं···'क्या ज़्यादा चोट लग गई चौधराइन। मैं भी कैसा कसाई हूं···कितने

ज़ोर का थप्पड़ लगा दिया इन फूल-से गालों पर…माफ़ कर दो मुझे, माफ़ कर दो…।' हरभजन, कृष्णा के आंसू अपने होंठों से पोंछ रहे थे—'तुम कम मूरख थोड़े ही हो जो, जो इतना भी नहीं समझते कि ये दुःख के नहीं, सुख के आंसू हैं…इस दूसरे गाल पर भी एक थप्पड़ जड़ो न जी।' कहती कृष्णा आंसुओं से नहाई हंसी हंस रही थी… हरभजन भी हंस पड़े—'अरे बाप रे! मेरी भोली चौधराइन को इतनी अकल है, सच-मुच मैं भी कहां जानता था।' …और भोर के फूटते उजास में चौधरी दम्पति के तन-मन भी एक अपूर्व 'उजास' से नहा गए…। वह 'उजास' ऐकान्तिक प्रणय की थी, तन-मन की एकात्मता की…समर्पण और स्वीकार की, अछूतेपन की।

किन्तु, चौधरी की नियति में भी एक अभिशाप अंकित था। बच्चे होते, मर जाते। चौधराइन चार पुत्रों को जन्म दे चुकी थी। वे गोरे, स्वस्थ, हंसते-खेलते शिशु तीन वर्ष के होते न होते, अज्ञात रोग से ग्रस्त होते, पीले पड़ते-पड़ते आंखें मूंद लेते। ऐसी चार शिशु-देहों को सफ़ेद कफ़न में लपेटकर गांव की नदी में प्रवाहित करते चौधरी प्रार्थना करने लगे थे—'हे विधाता! यदि छीन ही लेना है तो देते क्यों हो? इससे तो मुझे निस्सन्तान ही रहने दो।' वे चार शिशु-मुख, जिनके नाम चौधरी-चौधराइन ने मिलकर राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न रखे थे, उनकी आंखों में पथराकर रह गए थे। चौधरी से लिपटकर कृष्णा सिसकती, तो चौधरी उन्हें शब्दों से आश्वस्त भी नहीं कर पाते, केवल एक निःशब्द आलिंगन में कस लेते। वे पुरुष थे, आंसू पी सकते थे, पी भी लेते थे, किन्तु उनके ये पिए गए आंसू उनकी नसों में ज़हर बनकर घुलते उन्हें मारने लगे थे।

चौधराइन पांचवीं बार गर्भवती हुई तो चौधरी के होंठों पर न कोई प्रार्थना शेष थी, न आंखों में कोई कामना। वे मौन, चुप, पत्थर-से प्रतीक्षा करने लगे थे कि फिर शिशु-मुख चौधराइन की गोद में चांद-सा चमकेगा, नन्हे-नन्हे हाथ-पांव उछालता किलकेगा, चौधरी [illegible] से लिपटेगा, तोतली बोली के शब्दों को अपने अर्थ देगा

'पानी' को 'मम्मम्' कहता था, लक्ष्मण 'दूध' को 'ताता'...। एक दिन शायद दूध कुछ गरम था और लक्ष्मण के होंठ जल गए थे...वह देर तक रोता रहा था...चौधरी उसे गले से लगाए, पुचकारते, बहलाते कहते रहे थे—'तत्ता था बेटा तुम्हारा दूध, हम दूध को मारेंगे।' फिर उन्होंने बाकी बचे दूध का गिलास उठाकर पटक दिया—'लो दूध को मार दिया।' लक्ष्मण हंसने लगा था—'तत्ता को माल दिया...।' उस दिन से 'ताता' का अर्थ लक्ष्मण के शब्द-कोश में दूध बन गया था।

ऐसी जाने कितनी भोली, निर्दोष, शिशु-स्मृतियां चौधरी-चौधराइन की आंखों में कौंध-कौंध जातीं। चौधराइन की आंखों में उस विद्युत् के साथ बादल भी उमड़ते...बरसने लगते। चौधरी उस विद्युत् की तड़प को कलेजे में उतार लेते, जहां ऐसी बिजली गिरकर सब कुछ राख हुआ जाता...

पांचवां शिशु भी पुत्र था। कंजी आंखें, सुनहरे बाल, झक् गोरा रंग, किन्तु गोरा गदबदा नहीं, दुबला-पतला शिशु सतमासा ही जनम गया था। 'चलो इसके जाने की अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी।' चौधरी ने अपने पथराये मन से कहा। किन्तु...जाने किस विचित्र विधान के अनुसार जहां चार-चार स्वस्थ गदबदे शिशु चले गए थे, वह मरियल सतमासा टिक गया...। चौधरी ने पांच वर्ष तक उसका नाम भी नहीं रखा। पांचवें वर्ष में मुंडन-संस्कार के साथ नामकरण भी किया—'सुधीर'। एक आधुनिक नाम। चौधरी के विवाह से सुधीर के पांच वर्ष का होते तक, समय द्रुतगति से आगे बढ़ गया था, संसार बहुत बदल चुका था, 'आधुनिक' हो उठा था। चौधरी ने इसीलिए अपने टिक गए पुत्र को एक आधुनिक नाम दिया—'सुधीर'।

प्रतिदिन, हिन्दी का श्रेष्ठ समाचारपत्र ध्यान से पढ़ते चौधरी संसार की सारी गतिविधियों की यथाशक्ति जानकारी रखते। पढ़ते-पढ़ते चश्मा उतारकर रख देते, मसनद से टिककर आंखें मूंद लेते, सपने देखने लगते ...कि उनका बेटा सुधीर अंग्रेजी पढ़ने-बोलने लगा है...ऊंचा अफसर बन गया है...फिर शहनाइयां बज रही हैं, और एक सुधीर के जोड़ की ही आधुनिक सुन्दरी युवती वधू बनी उनके आंगन में, डोली से नहीं,

मोटर से उतरी है। सुधीर को वे मोटर जरूर ले देंगे। अब क्या उनका बेटा, उनकी तरह तांगे में चलेगा…?

चौधरी ने सात वर्ष के सुधीर को शहर के पब्लिक स्कूल में भरती करवा दिया, जहां बड़े सम्भ्रान्त, ऊंचे व्यक्तियों के पुत्र ही पढ़ते थे।

किन्तु सात वर्ष के सुधीर की कजरी आंखों में जिन संस्कारों के प्रतिबिम्ब झलकने लगे थे, वे निर्दोष नहीं थे। सुधीर गुलेल से डाल पर बैठी चहकती चिड़िया को निशाना बनाता, उसका निशाना अचूक होता। चहकती चिड़िया, रक्त से लथपथ होकर गिर पड़ती, तड़पती, शान्त हो जाती। 'वो मारा' कहता सुधीर ठहाका लगाता। चौधरी की आंखें नम हो आतीं—'नहीं बेटे, निर्दोष जीवों की हत्या नहीं करते। पाप लगता है।' चौधरी ने बचपन में केवल निर्जीव पतंगों को काटने का निर्दोष खेल खेला था…'वो काटा'…बालक चौधरी चीखते थे। बेटा सुधीर, सजीव पक्षियों के प्राण लेते, चीखना सीख रहा था—'वो मारा…!'

सुधीर फिर से निशाना साधते पूछता—'मुझे अच्छा लगता है, मारता हूं, मारूंगा…।'

दो-चार ऐसी घटनाओं और सुधीर के उद्दंड उत्तरों के पश्चात् चौधरी ने डंडे से सुधीर को तमाचा जड़ते गुलेल तोड़कर फेंक दी। तमाचा खाकर, उन्हें जलती दृष्टि से देखता सुधीर पैर पटकता चला गया। दूसरे दिन उसके हाथों में नई गुलेल थी, उसने मां की पूजा वाली गुल्लक से पैसे चुराए थे, नई गुलेल ले आया था—चीखकर कह रहा था—'देखूंगा मैं भी मेरी कितनी गुलेलें तोड़ते हैं आप ?'

चौधरी क्रोध से मसनद पर लुढ़क गए थे—'जा, जा नालायक, मेरी आंखों के सामने से, और जिसे चाहे मार।'

सुधीर विजयी-सा लौट गया था। चौधरी हाथों से मुंह ढककर बच्चे के समान रोने लगे थे फूट-फूटकर। वे अपनी 'चोट' को व्यक्त नहीं कर पा रहे थे…सुधीर तो 'जीत' गया था…किन्तु चौधरी की आंखों के सपने फिर भी मरने लगे थे…। चौधराइन ने आंचल से उनकी आंखें पोंछते कहा—'क्यों जरा-जरा-सी बात पर परेशान होते हो जी, अभी बच्चा है सुधीर, बड़ा होगा, स्कूल मास्टरों की डांट-फटकार से अच्छा-बुरा समझ जाएगा…आखिर तुम्हारा

वेटा है। राम का वेटा रावण नहीं हो सकता जी। वात मानो। दिल छोटा मत करो। आने दो कमवख्त को, पूजा की गुल्लक से पैसे चुराए हैं न, आज मैं भी पीटूंगी।'

किन्तु थप्पड़ मारने के लिए उठी मां की कलाई को सुधीर ने पकड़ लिया—'तुम मुझे क्या मारोगी मां, पहले हाथ छुड़ाकर तो देखो।' कृष्णा सचमुच सुधीर की पकड़ से हाथ नहीं छुड़ा सकी थीं। दुवले-पतले सुधीर की हड्डियों में शायद वज्र की-सी शक्ति थी। 'अच्छा वावा, जाने दे, तू जीता, मैं हारी, अब हाथ तो छोड़।' सुधीर ने हाथ छोड़ दिया—'याद रखना मां, मुझमें तुमसे ज़्यादा ताकत है। हां, अभी पिताजी मुझे पीट सकते हैं, ज़रा वड़ा हो जाने दो···फिर उन्हें भी देख लूंगा।'

वेटे के शारीरिक वल पर कृष्णा को गर्व नहीं हुआ, लज्जा हो आई। वे सारा प्रसंग, आंसुओं के साथ, चौधरी से छिपा गईं। सुधीर तो 'जी' गया था···किन्तु चौधरी और चौधराइन के सन्तान से सम्वन्धित सपने फिर भी मरने लगे थे···और उन 'सपनों' की मृत्यु को चौधरी दम्पति एक-दूसरे की आंखों में देखते भी, शब्दों में छिपाने लगे थे। सात वर्ष का सुधीर शहर के पब्लिक स्कूल में पढ़ने भेज दिया गया था। माता-पिता से अलग होते वह एक वार भी तो नहीं विचलित हुआ था। अकड़ता तांगे में बैठने वढ़ा तो चौधराइन ने आर्द्र कंठ से आवाज़ दी—'सुधीर, वप्पा के पैर तो छूता जा।' यन्त्रचालित-सा सुधीर लौटा, चौधरी के पैर छूए, 'लो तुम्हारे भी छू लेता हूं।' कहता मां के पैर भी अनछुआ-सा छूता, वढ़कर उछलकर तांगे में वैठ गया···वह कंजी आंखें झपकाता, विदा देने खड़े चौधरी-चौधराइन को देखता एक निर्मम हंसी हंस रहा था—विलकुल वैसी जैसी वह चहकती चिड़िया को गुलेल का निशाना वनाकर, रक्त-रंजित तड़पती देखकर हंसता था···चौधरी-चौधराइन के सपनों के विहग भी तो रक्त-रंजित हो उठे थे···उनका अपना खून ही, उनकी भावनाओं पर पत्थर फेंकता, उन्हें खून से लथपथ किए दे रहा था।

सामने खड़े छतनार नीम पर दृष्टि निवद्ध किए चौधरी हरभजन की आंखों में पुत्र सुधीर के अनेक रूप वन-मिट रहे हैं—यद्यपि उन रूपों

से बालक से युवा होते सुधीर की अवस्था और स्थितियों का अन्तर रहा है किन्तु सुधीर की कंजी आंखों का भूरा रंग उनमें एक-सा बना रहा आया है।

जिस वर्ष सुधीर हुआ था, उसी वर्ष चौधरी ने हवेली के अहाते में यह नीम ठीक अपनी बैठक के सामने रोपा था। सुधीर और नीम दोनों पच्चीस वर्षों के हो गए। जड़ नीम अपनी जगह खड़ा-खड़ा चौधरी के दुःख-दर्दों, उतार-चढ़ाव का मूक साक्षी बना रहा। चेतन सुधीर, अर्थात् मानवीय चेतना का एक स्पन्दित रूप सुधीर उनका अपने रक्त और मांस का एक प्रतिरूप, उनका एकमात्र पुत्र पिता के सारे संघर्ष को, मान्यताओं को, नकारता रहा। चौधरी को अपने बेटे से यह नीम ज्यादा अपना लगता है। घंटों चुपचाप बैठे वे उसे निहारा करते हैं। नीम पर धूप चढ़ती है, उतरती है। नीम की छाया लम्बी-छोटी होती है···चैत में नीम फूलता है तो कडुई सोंधी गन्ध से चौधरी की सांसें भर उठती हैं। चौधराइन नीम के फूलों को सुखाकर तलती हैं, पूरियों के साथ चौधरी को खिलाती हैं। हाथ के कौर में पूरी के टुकड़े में नीम के फूल भरे चौधरी उस कौर को निहारने लगते हैं तो कृष्णा हंस पड़ती है—'अजी खाओ न। उसे देख क्या रहे हो? अपना नीम तो ऐसा फूलता है जैसे गांव-भर में और कोई नीम नहीं···और तुम भी तो अजीब हो, तुम्हें इसके ये कड़ुए फूल मिठाई से ज्यादा भाते हैं, क्यों?'

चौधरी कुछ कहते नहीं, चुपचाप खाने लगते हैं, फिर हुक्का पीते, मसनद से टिके उस नीम को एकदम तब तक निहारते रहते हैं जब तक पलकें ही न झपक जाएं···। आंखें खुलती हैं·· तो फिर नीम सामने होता है···काश। सुधीर के स्थान पर यह नीम उनका पुत्र होता·· चौधरी इस असंभव कल्पना पर हंस पड़ते हैं···फिर यह हंसी एक दीर्घ निःश्वास बन जाती है।

सुधीर दो वर्ष पूर्व इंजीनियरिंग की उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका चला गया था। चौधरी का सपना एक सीमा तक सच हो चुका था। कंजी आंखों, सुनहरे बालों वाला उनका अति गौरवर्ण पुत्र, पूरा साहब बन चुका था। ऐसी फर्राटेदार अंग्रेजी बोलता था कि छोरे पर आए

कलेक्टर और मिनिस्टर तक चौधरी को बधाई देने लगे थे—'आपका बेटा जल्दी ही किसी ऊंचे पद पर होगा।'

ऊंचा पद···? चहकती चिड़िया पर गुलेल से निशाना लगाता, उसे तड़पता देखकर अट्टहास करता सुधीर चौधरी को याद आ जाता। उन्हें लगता, गुलेल के स्थान पर सुधीर के हाथों में उन्होंने भरा रिवाल्वर ही पकड़ा दिया है। क्या सुधीर अपनी सामर्थ्य का उपयोग ठीक से कर पाएगा···कहां ? सुधीर के 'उचित' चौधरी के 'उचित' से एकदम अलग हैं—एकदम विपरीत। सुधीर अपने हर 'उचित' को, कार्य को 'आधुनिक' अर्थात् 'द माडर्न वे ऑफ लाइफ'···कहता है।

बीच-बीच में जब भी वह अल्प समय के लिए गांव आता, चौधरी को नये घाव दे जाता—'पापा !···बप्पा नहीं कहूंगा, इट्स जस्ट फुलिश ···आपको मालूम है, ज़माना कितनी तरक्की कर चुका है। आज आदमी चांद पर पहुंच गया है···स्पेस में चक्कर काट रहा है···हो सकता है तीसरा विश्वयुद्ध स्पेस अर्थात् अन्तरिक्ष में हो। आह, मज़ा आ जाएगा।'

युद्ध···युद्ध···युद्ध···रक्तपात···विनाश···की कल्पना करते सुधीर का अट्टहास चौधरी के कलेजे में गुलेल के पत्थर-सा धंस जाता···उनके स्पन्दनों का विहग रक्त से लथपथ हो जाता। पिता के आहत मुख को चुनौती-भरी आंखों से ताकता सुधीर तीर पर तीर छोड़े जाता—'क्या हो गया आपको ? तबियत तो ठीक है ? कैसे कमज़ोर दिल के आदमी हैं पापा आप, कि लड़ाई के नाम से ही कांपने लगे। आप तो बस गांव के सरपंच बने हुक्का गुड़गुड़ाया कीजिए···सुबह-शाम मन्दिर में जाकर घंटा हिला लिया कीजिए और इस 'राकेट एज' में भी बैलगाड़ी पर ही सवारी कीजिए। सुना, आपके दोनों बूढ़े बैल अभी मरे नहीं ? जितना दाना-पानी उन्हें खिलाते हैं, उतने पेट्रोल के खर्च में एक कार आसानी से चलाई जा सकती है···कभी कार में बैठकर देखा है···। कार में बैठने का अर्थ समझते हैं ?'

'चुप रहो सुधीर। तुम्हें मोटर ले दूंगा, लेकिन मेरे बैलों को कुछ मत बोलो।' चौधरी सह नहीं सके, डांट बैठे।

'अच्छा साहब, नहीं बोलते, अपने को क्या···। आप बूढ़े अपाहिज

बैलों का क्या, आदमियों का भी एक पूरा 'ज़ू' बना लीजिए, आप स्वयं उसके सबसे अच्छे नमूने होंगे।' सुधीर ने सिगरेट का एक गहरा कश खींचकर हिकारत से कहा।

'सुधीर, तू इतना पढ़-लिख गया, तुझे बाप से बात करने का सलीका नहीं आया''' आखिर वे तेरे पिता हैं, उनसे ऐसे बोला जाता है ?' कृष्णा आहत स्वरों से डाँटती, फिर सिसकने लगती'''चौधरी के सिर में तेल मलती रात के नीरव प्रहर में जैसे स्वयं से कहती—'हे भगवान, यह सच्चाई राम के घर रावण कैसे जनम गया ? किस पाप की सजा दी प्रभु।'

अमेरिका से सुधीर का पत्र गत मास आया था'''सुना, आपने कोई ट्रस्ट बनाकर प्रापर्टी की आमदनी का 'वन-थर्ड' दान-पुन के लिए रिज़र्व कर दिया है। मुझसे पूछा तक नहीं। आपको इन बेवकूफियों से चेंज करना होगा। आ रहा हूँ, आपसे भी अच्छी तरह निपटूंगा। आपके सब कुछ का उत्तराधिकारी मैं हूँ, केवल मैं।'''और मुझे अधिकार है कि मैं अपने अधिकारों की रक्षा करूँ। याद रखिएगा, सुधीर से आप जीत नहीं सकेंगे। आपकी दकियानूसी, बेवकूफियों के लिए मैं अपने अधिकार, अपने सुख नहीं छोड़ सकता'''आप सीधे से नहीं देंगे, तो छीन लूंगा।'

उस पत्र की पूरी बात चौधरी कृष्णा से छिपा गए थे। सचमुच, उनका पुत्र अति आधुनिक हो उठा था—युवा सिंह-सा हिंस्र। क्या सिंह से शाकाहारी होने की आशा की जा सकती है ? उसे तो प्रकृति ही मांसाहारी बनाती है। किन्तु सुधीर पशु नहीं मनुष्य है। शाकाहारी या मांसाहारी होने का विवेक उसमें होना चाहिए। चौधरी शिक्षा के नाम पर अधिकाधिक शिक्षित होते पुत्र को देख रहे थे कि कैसे वह स्वार्थों को 'अधिकार' कहना सीख गया था'''मानवीय संवेदनाओं को भूलना'''कैसे वह भारी वैज्ञानिक विजयों की जड़ता को स्वीकारता छोटे-छोटे चेतन जीवन-मूल्यों को नकारना सीख गया था'''उसके आधुनिक सुख की परिभाषा केवल एक शब्द पर केन्द्रित हो गई थी—'स्वयं' पर।

क्या सुधीर की तुलना में ये बूढ़े बैलों जैसे ही हो गए थे ? इन्हें

पर परम्पराओं का जुआ रखे, सारे जीवन एक नियमबद्ध परिधि में घूमते चौधरी क्या सचमुच बैल की ही स्थिति रखते थे···? चौधरी को याद आता—'रंडी के नाच की रस्म तो उन्होंने भी बन्द करवाई थी। यह सुधीर तो जैसे मन्दिर के चढ़ावे की रस्म बन्द करने बढ़ रहा है···।' चौधरी के सुख की एक परिभाषा बूढ़े अपाहिज हो चुके बैलों की प्राण-रक्षा थी···जिसे सुधीर स्पष्ट शब्दों में, जूते मारता-सा उनकी 'मूर्खता' कहने लगा था।

अपने दोनों बूढ़े बैलों को सहलाते, चौधरी कल्पना में स्वयं को तीसरे बूढ़े बैल-सा देखने लगते···जिन्हें मार दिया जाना चाहिए कि व्यर्थ दाना-पानी के खर्च के स्थान पर कार ली जा सके।

चौधराइन कहती— 'सब ठीक हो जाएगा जी। मैंने सुधीर के लिए ऐसी सुन्दर दुलहन देख रखी है कि, सुधीर उसे देखते ही काबू में आ जाएगा···मैंने तो बात भी पक्की कर ली है···बस, उस बन्दर की नाक में नकेल पड़नी ही चाहिए···अरे, औरत का वसीकरन तो अच्छे-अच्छों को बांध लेता है। अरे, लड़की क्या है, चांद का टुकड़ा है···। हंसती है तो फूल झरते हैं···बिलकुल मेम जैसी गोरी···! दसवीं तक पढ़ी भी है। सुधीर को जरूर पसन्द आ जाएगी।'

हां, अब यह अन्तिम 'अस्त्र' ही तो है, चौधरी-चौधराइन के हाथों में कि वे अपने बेटे को जीत सकें। 'ठीक कहती है चौधराइन, औरत का वसीकरन अच्छे-अच्छों को बांध लेता है।' वृद्ध चौधरी की आंखों में चौध-राइन का तरुण मुख उभरता···जिसे एकटक देखते वे दीये की बाती उकसा दिया करते थे···। और जैसे रात भी बिना पलक झपकाए बीत जाती थी।

'सरकार भैया की चिट्ठी आई है। आपको बहुत इन्तजार था न? मिठाई खिलाइए, आज तो बन्दा मुंह मीठा करवाकर ही जाएगा।' फख-रुद्दीन, उत्साह से हांफता-सा पसीना पोंछने लगा था—'जल्दी पढ़कर बताइए हुजूर, भैया कब आय रहे हैं? एक छोटी-सी मन्नत इस गुलाम ने भी मान रखी है।'

चौधरी ने कांपते हाथों से पत्र खोला—बिना किसी आवेश के लिखा था— 'अम्माजान को चाहत से पहुँच रहा हूँ…परेशानी करके आप शहर मत आइएगा. मैं खुद साथ पहुँच जाऊँगा—कारण बता दूँ, मेरे साथ अमेरिकन वाइफ, अर्थात् पत्नी होगी। मैंने शादी कर ली है। —सुधीर।'

चौधरी के कांपते हाथों से पत्र छूट गया…आँखें सामने खड़े जड़ नीम पर निबद्ध हो गईं…जिसकी अपेक्षा वे सुधीर से अधिक स्नेह रखते थे। चौधरी के रक्तहीन हो उठे चेहरे को देखते हाकिया सहम गया—'क्या कोई बुरी खबर है हुजूर ?'

'नहीं, ऐसा कुछ नहीं…' चौधरी के होठ फड़के…वे आँखें मूँदकर मसनद से टिक गए थे। चौधरी के मुख पर उभर उठी किसी गहन पीड़ा को स्पष्ट देखता [illegible] काँपने-सा लगा था।

'अच्छा हुजूर, चलता हूँ, फिर आऊँगा।' हाकिया चला गया। चौधरी निश्चल पड़े रहे।

'आज बीस है, रविवार…तारीख को सुधीर आ रहा है…ठीक आज के दिन।' उन्होंने चौधराइन को इतने ठंडे स्वर में सूचना दी कि चौधराइन के मुख पर पड़ती धूप की किरण भी स्याह हो गई। 'ऐसे ठंडे-ठंडे क्यों बोल रहे हो जी। बेटा ज़माने के बाद घर [illegible] लौट रहा है तो खुश होना चाहिए न। जाओ, हंसो, अब प्रभु की किरपा से सब ठीक हो जाएगा। देखना…सब ठीक हो जाएगा। चलो, [illegible] बढ़ाने का भी इन्तजाम कर दूँ कि ये बन्दर अब और कहीं भाग न जाए।' चौधराइन अपने ही मज़ाक पर हँस पड़ीं। धूप की वह किरण उनके मुख पर काँप रही थी…। एक पल उज्ज्वल हो उठती, दूसरे क्षण स्याह हो जाती…।

'अरी चौधराइन, सुधीर को तुम्हारी [illegible] की दुल्हन नहीं चाहिए, …वह अमेरिकन दुल्हन लेकर आ रहा है।'

चौधरी की बातों ने अनुमान करने नहीं दिया। चौधराइन के मुख पर चमकती वह धूप की किरण एकदम स्याह हो गई… [illegible] शाम की उदास छाया में डूबता वह नीम का पेड़ [illegible]

था···चौधरी-चौधराइन जाने कितनी देर अचेत-से रहे···फिर चौधराइन ही उठीं···'अभी आती हूं ।' कहती चली गईं···जाते-जाते चौधरी का आंसुओं से भीगा मुख आंचल से पोंछती गई थीं ।

तुलसी के चौरे पर दीया जलाती चौधराइन ने नहा-धोकर आरती उतारी—सीताराम की एक प्रतिमा आंगन में स्थापित थी···। फिर सारे घर को महरी की सहायता से दीया-बाती से आलोकित किया···ढेर से दीपक जला दिए···घर जगमगा उठा···। आरती का थाल लिए वे चौधरी के निकट आईं···'सुनो जी, लो आरती लो, प्रसाद लो । क्यों हलकान होते हो । अब अंग्रेजी पढ़ा-लिखा बेटा मेम ही तो लाएगा । चलो, अच्छा हुआ । सुधीर ने ये जिम्मेदारी खुद ही पूरी कर ली । और लोकापवाद से काहे डरते हो । पंचायत और पूरी बिरादरी को भेज देंगे । प्रायश्चित्त हो जाएगा···बस । फिर आंगन में मेम बहू के गोरे-गोरे बेटी-बेटे खेलेंगे···देस की न सही, सात समुद्र पार की सही, सुधीर की दुलहन इस घर की बहू ही तो है ।'

चौधरी अवाक् थे । चौधराइन···यह भोली-भाली कृष्णा, मांग में ढेर-सा सिन्दूर भरने वाली, वर्ष में जाने कितने निर्जल व्रत-उपवास बिना उनके अर्थ समझे-जाने रखनेवाली, परम्पराओं और रूढ़ियों को चुपचाप गरदन झुकाए निभाती जानेवाली, चौधरी के अंगूठे को छुआकर प्रति प्रातः जल का नियमपूर्वक आचमन ग्रहण करनेवाली, सहसा इतनी साहसी, इतनी विवेकशील, इतनी आधुनिक हो उठेगी,···चौधरी अवाक् थे,··· स्तब्ध···किन्तु प्रसन्न भी । चौधराइन ने उनके अंधेरों में भी दिये जला दिए थे । सच में ज़माना कितना बदल चुका है, आदमी धरती से चांद पर पहुंच चुका है···क्या हुआ जो सुधीर मेम बहू ले आया । वे समृद्ध हैं, सम्पन्न हैं···प्रायश्चित कर लेंगे···बस । चौधरी हलके होकर उठे, चौधराइन को गले से लगा लिया—'अरे बाप रे ! मेरी भोली चौधराइन को इतनी अकल है, सचमुच मैं भी कहां जानता था ।' वर्षों पूर्व का वह वाक्य दुहराते वृद्ध दम्पति, जैसे एक अग्निपरीक्षा की लपटों के बीच फिर एक हो उठे थे ।

एअरपोर्ट पर चौधरी, हाथ में छड़ी पकड़े एक कोने के खड़े, आकाश

के विस्तार को निर्निमेष देख रहे थे। अभी इसी विस्तार में से उनका बेटा उतरेगा, उनका उच्च शिक्षित पढ़ा-लिखा सभ्य, सुसंस्कृत, सुयोग्य पुत्र सुधीर! —'देखिएगा चौधरी साहब, आपका बेटा, जल्दी ही किसी ऊंचे पद पर पहुंचेगा।' उनके कानों में गूंज रहा था।

आकाश के नीलाभ विस्तार में एक हवाई जहाज बिन्दु-सा उभरा ···वह बिन्दु धरती के निकट आता बड़ा होता गया···धरती पर तीव्र गड़गड़ाहट के साथ उतरकर स्थिर हो गया। यात्री उतरने लगे थे।

चौधरी ने जल्दी-जल्दी जेब से निकालकर चश्मा लगाया। शिराओं में कांपते आवेग को नियन्त्रित करते यात्रियों को देखने लगे—'वह···वह रहा सुधीर। सचमुच गजब का हो गया है। अब तो दुबला-पतला भी न रहा। खूब हृष्ट-पुष्ट हो गया है। काले सूट में कैसा फब रहा है—बिलकुल अफसर जैसा। और वह···शायद उसकी अमेरिकन दुल्हन है।' चौधरी ने संकोच से नजरें झुका लीं। आगे बढ़े, रुक गए···सुधीर स्वयं उनकी ओर आ रहा था।

'मैंने आपसे मना किया था न यहां आने के लिए, फिर क्यों आए?' उनका साहब बेटा आंखें तरेरता पूछ रहा था, सुधीर की एक बांह मेम बहू की कमर को घेरे थी। दाहिने हाथ की उंगलियों में पाइप दबा था।

मेम बहू ने शायद अंग्रेजी में पूछा था—'यह कौन है?' सुधीर उससे कह रहा था—'जस्ट ऐन ओल्ड सर्वेण्ट ऑफ आवर हाउसहोल्ड।'

'सर्वेण्ट'···'नौकर'···। चौधरी इतनी अंग्रेजी जानते थे···उनके कांपते हाथ से छड़ी गिर गई थी। 'सुधीर बेटा।' उनके कांपते कंठ से निकला···उनकी आंसुओं से धुंधली हो उठी आंखों में धरती-आकाश कांपने लगे थे।

'तुम चले जाओ, मैं जल्दी ही गांव आऊंगा।' कहता सुधीर बिना मुड़े देखे, पाइप के कश लेता, मेम बहू की लचकती कमर को बांह से घेरे, बढ़ गया था।

कांपते चौधरी स्थिर हो गए थे। वर्षों बाद एक जकड़न से मुक्ति

का अहसास उन्हें एकदम हलका कर गया था—उनकी बूढ़ी, असभ्य परम्परावादिनी आंखों में तो अब भी किसी 'सत्य' का सामना करने का साहस था ! किन्तु उनके युवा, सुसंस्कृत, शिक्षा की ऊंची डिग्री प्राप्त कर लौटे आधुनिक पुत्र में उन्हें मुड़कर एक नज़र देखने का साहस भी कहां था ?

अभिशप्ता

खिड़की की राह पूनम की चांदनी कब कमरे में उतर आई, मानो पता भी न चला। वह उत्तर-पुस्तकों पर मनोयोग से जुटी हुई है। इस बार परीक्षा का खासा काम मिल गया है उसे। करीब पांच सौ इन कापियों के मिल जाएंगे और पार्ट टाइम के भी पांच सौ मिलेंगे। पिताजी कह रहे थे कि इन हज़ार रुपयों से मानो के लिए एक कमरा ऊपर बनवा दिया जाए तो मानो को सुविधा रहेगी। ऊपर के एकान्त में एक कमरा ···पिता कमरे की बात करते ऐसे तृप्त थे जैसे मानो के लिए भी किसी विशेष तृप्ति की बात कर रहे हों। किन्तु मानो सहसा चुप हो गई थी··· ऊपर एकान्त कमरे में वह क्या करेगी, एकान्तवास? भीतर का आलोड़न आंखों से न झांक उठे, इसलिए मानो ने आंखें झुका ली थीं···पिता ने इसे मानो की मौन तृप्ति-सहमति समझा होगा···मानो उस आलोड़न को छिपाती उठ आई थी।

मानो···मानो दी! स्कूल में लड़कियां उसे 'मानो दी' कहती हैं, घर पर बहनें। यहां तक कि पिता भी उसे 'मानो दी' कह बैठते हैं। कल ही जब वह स्कूल से लौटी थी तब पिता लेटे अखबार पढ़ रहे थे। उसे देखते ही झटके से उठ बैठे, 'आ गई मानो दी! क्या बहुत थक गई आज?'

'मानो दी'···मानो को लगा उसका अस्तित्व 'मानो दी' का ही रह गया है। वह दीदी है—स्कूल में लड़कियों की, घर में चार-चार बहनों की, पिता की, मां की! कितना सम्मान है उसका! पिता तक उसके सम्मान में उठ बैठते हैं। मां उसका बखान करते नहीं थकती और उसकी बहनों के रिश्ते उसके इसी सम्मान के कारण अनायास हुए जा

रहे हैं। पिछले वर्ष ही तो उसकी तीसरी बहन का रिश्ता मांगने जो सज्जन आए थे, गद्गद होकर कह रहे थे—'लड़की मानो दी की बहन है, फिर क्या पूछना! मेरी लड़की मानो दी की छाया है, बता रही थी कि मानो दी की जैसी न कोई टीचर है, न हो सकती है!'

फिर बहन को लिए मानो सामने आई थी तो सब उसकी अभ्यर्थना में उठ खड़े हुए थे। एक टीस-सी उठी थी मानो के मन में। बहनों का विवाह करती, एक अकलुष चरित्र का यश अर्जित करती, माता-पिता के बुढ़ापे को सुखी करती, वह स्वयं कितनी अकेली हुई जा रही थी—इसे कौन समझता है…?

मानो ने आखिरी कापी जांचकर बन्द कर दी। बिजली का चौंधियाता प्रकाश उसे असह्य लगने लगा। कभी-कभी आंखों पर चश्मा चढ़ाए जब वह घंटों लिखती-पढ़ती रहती है तब उसे चश्मे का बोझ भी असह्य लगने लगता है। उसका जी चाहता है चश्मा उतारकर तोड़ दे और अपनी नैसर्गिक बड़ी-बड़ी आंखों से संसार को देखे, छुए…और इन्हीं बड़ी आंखों के माध्यम से किसीकी आंखों में खो जाए…

चार वर्ष पूर्व मानो ऐसे ही खो गई थी…वह बस-स्टाप पर रोज मिलते थे, फिर बस में निकट बैठने लगे और फिर…जब भी मानो को वे क्षण याद आते हैं मानो एक असह्य दर्द से छटपटाने लगती है…कोई नहीं जानता कि यह दर्द उसके पोर-पोर में भिद चुका है…कैसी यन्त्रणा है यह, जो 'दे पाने' की इतनी तुष्टि के बाद भी उसे निरर्थकता के दंश से क्षत-विक्षत किए देती है…और अब मानो की आंखों में आंसू नहीं आते, केवल उन बड़ी आंखों में क्षितिज तक फैला शून्य झलकता रह जाता है…

मानो ने बी० ए० किया ही था कि पिता लकवे से ग्रस्त हुए। वह ठीक तो हो गए, किन्तु काम-काज के अयोग्य होकर। मां, चार बहनों और असमर्थ पिता ने मानो की ओर जीवन-दान मांगती याचना-भरी दृष्टि से देखा…मानो को वे दृष्टियां याद हैं—मां फूट-फूटकर रोई थी, पिता की आंखों में आंसू नहीं थे, किन्तु दृष्टि इतनी करुण थी कि स्वयं मानो की आंख में आंसू आ गए थे। सुषमा और सरिता ने मानो की

गोद में मुख छिपा लिए थे। मानो ने तुरन्त सर्विस कर ली। बी० एड० भी किया और इतना कमाने लगी कि परिवार जी सके।

मानो का रिश्ता तय हो चुका था। सजातीय बन्धु ने अपने इंजीनियरिंग पढ़ते लड़के के लिए मानो को मांगा था। लड़के की मां ने मानो की सुकोमल अंगयष्टि, स्निग्ध मुख और बड़ी-बड़ी आंखों की बलाएं ली थीं। मानो की मां से मानो की भावी सास ने कहा था—'हमें और कुछ नहीं चाहिए। बस, यह लक्ष्मी-सी बेटी दे दीजिए'''' अपनी मां के पार्श्व में बैठा मानो का भावी इंजीनियर वर उसे कनखियों से छुए ले रहा था। मानो के कपोल इतने आरक्त हो उठे थे कि वर की बहन कह बैठी थी—'आप गालों पर रंग बहुत अच्छा लगाती हैं!' मानो और सकुचा गई थी, किन्तु उसने लक्ष्य कर लिया था कि भावी वर की आंखों में उसके आरक्त कपोलों का रंग झिलमिला उठा है! वे आंखें मानो के मन में आज तक कौंधती हैं!'''

अपने उस इंजीनियर वर को बहन सुषमा के लिए त्यागते मानो एक बलिदान के गौरव में तृप्त हो रही थी। अब उसका ब्याह तो इतनी जल्दी हो नहीं सकता, परिवार की 'एकमात्र अर्निंग मेम्बर' वही तो थी। किसके भरोसे छोड़ दे इन भावना-भरे मुखों को? कर्तव्य-पालन के गौरव से मानो इतना उठ गई थी कि कन्यादान के समय उसने उस इंजीनियर वर के मस्तक पर आशीर्वाद का हाथ एकदम सहज होकर रख दिया था। सुषमा की विदा के बाद मां ने मानो को अपने वक्ष में कसकर भींच लिया था—'मानो, तुझे जनकर मैं धन्य हुई! भला कौन ऐसी लड़की होगी बेटी, जो खुशी-खुशी इतना त्याग करे!' और मानो को लगा था उस त्याग की कीमत मिल गई है।

फिर सरिता और मीरा के ब्याह हुए, अब तो केवल अनिता बची है''' बची तो मानो भी है'''किन्तु मानो के सम्बन्ध में सोचने की आवश्यकता शायद कोई नहीं महसूस करता'''मीरा के विवाह के बाद पिता एकदम से गद्गद हो उठे थे—'मानो बेटी, तू तो सचमुच देवी है।' देवी'''? हां देवी ही तो'''मानो ने अपनी सजल होती आंखें चुरा ली थीं। देवी! प्रस्तर-प्रतिमा! जो दान देती ही रहती है, लेती नहीं'''लेकिन क्या वह

वाकई प्रस्तर-प्रतिमा ही है ? अपने हाड़-मांस के अस्तित्व से उठते चीत्कार को झेलती मानो रातों में देर तक बिस्तर पर करवटें बदलती रह जाती···

सवेरे उठती तो देखती मां ने उसके लिए अलग से ज्यादा दूध डालकर चाय बनाई है। अनिता दौड़कर गुसलखाने में उसके कपड़े और गरम पानी रख आती है। पिता बार-बार कहते हैं—'मानो, मानो बेटी, आज कब तक आओगी ? बहुत काम न किया करो, मुझे दुख होता है।'

मानो ने कई बार इस 'दुख' को परखना चाहा, फिर अपने-आपको डांट दिया—अच्छी लड़कियां मां-बाप में दोष नहीं देखा करतीं।

मानो देखती है, मां उससे अतिरिक्त ही स्नेह करती है। पिता उसके लिए विशेष रूप में चिन्तित रहते हैं और बहनें उसे उस देवी-सा पूजती हैं जिसने उन्हें जीवन-दान दिया हो। देवी···? हां, देवी ही तो। मानो का त्याग, मानो की गरिमा, किसी देवी से कम नहीं···लेकिन मानो अब इस देवीत्व को झेल नहीं पा रही···उसे लगता है उसके धड़कते हृदय को यह देवीत्व अपने पाषाणी बोझ से रौंद देगा···उसके होंठ कांपने लगते हैं, लगता है इन होंठों से वह चीत्कार फूट पड़ेगा, जो उसके हृदय में घुट रहा है···देवीत्व का गौरव और अभिशप्ता की नियति···वह एक विद्रूप का द्वन्द्व झेलती टूटने लगी है···।

चार वर्ष पूर्व प्रशान्त को अपनी उन बड़ी-बड़ी आंखों में भरती मानो को लगा था, वह भी अपने जीने का सहज अधिकार मांग रही है। इस मानवीय मांग और उसकी अपेक्षित तृप्ति के सपने देखती मानो उन स्पन्दनों से भर गई थी, जो उसके तन-मन में फूल बनकर खिल उठे थे···। मानो को लगता था उसकी सांसें महक उठी हैं, ऐसी गन्ध से, जिसके बिना किसी नारी का अस्तित्व सार्थक नहीं होता···वे फूल···वह गन्ध···! मानो उस गन्ध में बेसुध होती इसके पूर्व ही वह गन्ध उससे छिन गई थी।

उस सांझ गोमती किनारे के एकान्त में प्रशान्त ने उसे निकट खींच लिया था—'अब मुझसे और प्रतीक्षा नहीं होती मानो ! हमें एक हो जाना चाहिए···' मानो के तीस वर्षीय अछूते अंगों में प्रशान्त की छुअन

से आदिम आग जाग उठी थी, मानो ने प्रशान्त के वक्ष पर सिर टेकते आंखें मूंद ली थीं'''तुम जब चाहो हमारा विवाह हो सकता है'''

मानो का सिर प्रशान्त के वक्ष पर टिका ही रहा और वे भावी जीवन की योजनाएं बनाने लगे। प्रशान्त कह रहा था—'तुम्हारे चार सौ और मेरे भी चार सौ, काफी होंगे एक सुखी जीवन के लिए, अब देर किस बात की।'

मानो को झटका-सा लगा। चार सौ तो उसकी पूरी तनखाह है। चार सौ पूरे वे ही खर्च कर लेंगे तो पिता, मां और वे दो बहनें कैसे रहेंगी?

मानो ने प्रशान्त के वक्ष से सिर हटा लिया, कसकर उसके हाथ पकड़ लिए, मानो का स्वर लड़खड़ाने लगा था—'न प्रशान्त, आखिर मेरी फैमिली के लिए भी तो मुझे कुछ देना होगा। तुम जानते हो वे मुझपर ही निर्भर हैं।'

प्रशान्त मानो की उन बड़ी आंखों में सीधा ही देख रहा था—'लुक हियर मानो, मैं तुम्हारे साथ तुम्हारा सब कुछ चाहता हूं। एक अच्छी जिन्दगी भी जीना चाहता हूं, और एक अच्छी जिन्दगी जीने के लिए पैसा जरूरी है। सिर्फ मेरी तनखाह से क्या होगा? हम ठीक से जी भी न सकेंगे।'

मानो जानती थी, प्रशान्त प्रैक्टिकल है। प्रशान्त के व्यक्तित्व की सुलझी दृढ़ता ने ही उसे अपनी ओर खींचा था। मानो ऐसी ही दृढ़ता चाहती थी जो उसकी गरिमा को बांध सके। प्रशान्त जब लम्बे कदम रखता अपनी सीधी चाल से चलता तब उससे कदम मिलाती मानो मुग्ध होती रहती'''काश! इन लम्बे-सीधे कदमों से अपनी गरिमामयी चाल मिलाती वह जीवन-भर ऐसे ही चलती रहे'''मानो ने चाहा था।

'प्रशान्त, प्लीज अपने प्रेम को इस जरा-सी बात के लिए न तोड़ो,' मानो याचना करने लगी थी।

'तुम इसे जरा-सी बात कहती हो मानो? जानती हो आजकल चार-पांच सौ में क्या होता है? हम दो बच्चे भी पैदा नहीं कर सकते। और जो बच्चे पैदा हो ही जाएंगे, उन्हें सरकारी स्कूल में पढ़ा-पढ़ाकर

उनकी ज़िन्दगी भी चौपट करेंगे। मैंने कहा न, एक अच्छी ज़िन्दगी लिए आज के युग में काफी पैसा ज़रूरी है।'

प्रशान्त का स्वर इतना कटु हो गया था कि मानो रो पड़ी...

उसने उस रात मां से सब कुछ कहा और रोती रही थी। मां ने सब कुछ सुना था और बिना कुछ कहे उठ गई थी। जो मां मानो का बखान करते नहीं थकती थी, उसी मां ने मानो के आंसू नहीं पोंछे थे— एक अव्यक्त छटपटाहट से मानो देर तक कांपती रही...।

रात की नीरवता में मानो ने सुनीं, घुटी-घुटी आवाज़ें। हां मां और पिता ही तो थे—'मानो के बाबू अब क्या होगा? अभी तो मीरा और अनिता ब्याहने को हैं...तुम्हारी पेंशन के साठ रुपयों से क्या होगा?'

पिता की आवाज़ और भी घुटी हुई थी—'पता नहीं, इस देवी-सी लड़की का दिमाग कैसे खराब हो गया...अरे, सारे शहर में तो इसके 'कैरेक्टर' की चर्चा है।'

तो मानो का दिमाग खराब हो गया है...? मानो ने इतने कसकर अपने होंठ पर दांत भींचे कि छलक आए खून का नमकीन स्वाद उसके होंठों से हृदय तक फैल गया...वह जीने के अधिकार देती रही है, किन्तु शायद उसे जीने का कोई अधिकार नहीं...। 'देवी-सी लड़की का दिमाग कैसे खराब हो गया...?' देवी...देवी...मानो पलंग की पाटी पर मुट्ठियां पटकने लगी थी...कुछ देर पहले मां के सामने वह आए आंसू अब चाहने पर भी नहीं आ रहे थे...वह शायद कभी किसीके लिए केवल 'मानो' नहीं बन पाएगी...वह तो मानो दी है, 'मानो दी' ही रहेगी!

दूसरे दिन प्रशान्त को अपने निर्णय की सूचना देती मानो गोमती के जल को अपलक दृष्टि से देखती रही थी...'तो यही तुम्हारा निर्णय है मानो! और तुम कहती थीं कि तुम्हें मुझसे प्यार है।' प्रशान्त के मुख पर घिरती रात की-सी स्याही घिर आई थी। स्वर में व्यंग्य के साथ टूटने का दर्द भी था।

'अब तुम कुछ भी समझो प्रशान्त, मैं तो तुम्हारी ही हूं, लेकिन और को मंझधार में कैसे छोड़ दूं...?' मानो की दृष्टि नदी के उस भंवर

पर स्थिर हो गई थी जिसमें कंकड़ फेंकती, खेलती वह प्रति सांझ प्रशान्त के साथ बैठी रहती थी···आज वही भंवर उसे डुबाने लगा था···ठीक है, वह तो किसीको मंझधार में नहीं छोड़ेगी, चाहे स्वयं भंवर मे डूब जाए !

प्रशान्त ने उसी वर्ष विवाह कर लिया था, मानो के ही स्कूल की एक और अध्यापिका मिस कौल से। विवाह के बाद प्रशान्त एक दिन जान-बूझकर उससे एकान्त में मिला था—'मानो दी, अब तो खुश हैं आप ? आपने किसीको मंझधार मे नहीं छोड़ा और मुझे भी पार लगा दिया।' मिस कौल से प्रशान्त का विवाह मानो ने ही 'अरेंज' किया था।

प्रशान्त का व्यंग्य झेलती मानो खिड़की के पार उस क्षितिज को देखती रह गई थी जिसे देखते रहने की नियति शायद उसने स्वयं ही अपने लिए चुन ली थी।

केवल प्रशान्त ने ही उसे 'मानो' कहा था और अब वह भी उसे 'मानो दी' कह रहा है···मानो को लगा वह सच ही प्रस्तर-प्रतिमा है, प्रतिमा—जिसे सब पूजते हैं···किन्तु जिसे जीने का अधिकार कोई नहीं देता। वरदायिनी देवी की अभिशप्त नियति—मानो फिर अपने होंठ कसकर भींच लेती···।

मानो जान गई है कि किसी शापग्रस्त वरदायिनी-सी वह मंच पर खड़ी रहेगी, और जयघोष के साथ उसपर फूल बरसते रहेंगे···किन्तु कमरे के निबिड़ एकान्त में दो भुजाओं का हार उसे कभी नहीं मिलेगा ···कभी नहीं। इस जयघोष के सारे शोर से अधिक मर्मभेदी एक शोर मानो के भीतर भी उठता रहा है। अब वह शोर इतना प्रचण्ड हो उठा है कि मानो चाहने लगी है वह बहरी हो जाए। अपने ही स्वर को न झेल पाने की इस नियति को मानो आखिर कैसे झेले···?

लाइट बुझाकर कमरे के एकान्त में चांदनी के फूलों को अपलक देखती मानो खण्ड-खण्ड होने लगती है···कितने सुन्दर हैं चांदनी के ये फूल, जो उसके अंग-अंग पर बिछे जा रहे हैं···किन्तु जगाने के लिए हैं, उस कामना की तृप्ति के लिए क्या इन्हें अंजलि में भरा जा सकता है···? नहीं न। ये तो केवल अंजलि में भरे जाने की कामना नहीं···कामना···

तृप्ति···कर्त्तव्य···गौरव···मानो कराह कर आंखें मूंद लेती है···नहीं, नहीं···उसकी इन बड़ी-बड़ी आंखों की नियति धूप ही है···चांदनी नहीं···।

पड़ोस के शर्माजी के घर से उठता शहनाई का स्वर तेज होने लगा है। ग्यारह बजे के फेरे हैं शर्माजी की लड़की मालती के। दोनों बहनें और मां वहां ही गई हैं। मानो भी गई थी। आशीर्वाद देकर पांच-सात मिनट में ही लौट आई। उसे कापियां निबटानी थीं। और अब कापियां निबट भी गईं। मानो ने चाहा एक काम समाप्त हो जाने के हल्केपन के अहसास को वह मन में भर ले···लेकिन मन था कि और भारी हो उठा था।

मानो आंखें मूंदे चुपचाप लेटी है। मुंदी आंखों में वधू वेश में सजी मालती का सलज्ज मुख बार-बार उभर रहा है। बहुत सुन्दर है मालती ! क्या मानो कम सुन्दर है ? प्रशान्त ने बार-बार कहा था—'भाग्यवान हूं मैं ! वरना क्या तुम्हारा-सा सुन्दर मुख हर किसीके नसीब में होता है !'

फिर प्रशान्त···और फिर वही दर्द, जो उसके पोर-पोर में झनझनाने लगता है···।

मां आती है—'अंधेरे में क्यों पड़ी है बेटी ! ले दूध पी ले। आखिर कापियां निबटा ही डालीं।'

मानो देखती है, उसके काम निबट जाने से मां कितनी हल्की हो उठी है।

काम समाप्त हो जाने की तृप्ति उसको न हो, मां को तो है। ऐसी तृप्तियों को पीती, मानो स्वयं कितनी प्यास से दग्ध हुई जा रही है··· कौन समझता है ?

मां लाइट जलाती मानो के सिरहाने बैठ जाती है—'सिर दर्द कर रहा होगा, ला तेल लगा दूं।'

एक सांस में दूध पीकर मानो फिर लेट जाती है। मां उसके सिर में तेल मलने लगी है। मां चट से एक बाल खींचती है—'भला ! ये भी कोई बाल पकने की उमर है !'

'हमारे बाल तो सब पके, अब हम पचास की हो गईं। तू तो पैंतीस की भी नहीं।' मानो को माँ की सहानुभूति का स्वर असह्य लगने लगता है। अब ऐसे स्वर उससे सहे नहीं जाते···

मानो माँ का हाथ हटा देती है—'रहने दो माँ, मुझे नींद आ रही है।'

नींद का अभिनय करती मानो को लगता है, वह इतनी थक गई है कि कल स्कूल भी नहीं जा सकेगी।

कोशिश में

'गुलवदन प्याज़ आठ आने किलो ! नये-नये प्याज आठ आने किलो !' अप्रैल की उस गर्म, शोले भड़काती दोपहर को चीरता एक फटा स्वर चीख रहा था ।

दोपहर के ढाई बजे होंगे । मैं और मिश्रा कॉलिज 'अटैण्ड' करके निकल रहे थे । कॉलिज से कुछ हटकर, सड़क के एक ओर खड़ा वह ठेले पर रखे प्याज़ बेच रहा था ।

'लीजिए सुनिए मिसेज़ गुप्ता, गुलवदन प्याज आठ आने किलो । ये कौन शायर आ गया जो प्याज पर शायरी कर रहा है ।' मिश्रा हंसे—'और जनाव का हुलिया तो देखिए जैसे 'जू' से छूटकर आए हों । न, न, आप उसे न देखिए, डर जाएंगी ।'

मैंने देखा, नाटा कद, बेढंगे हाथ-पैर, भयावह काला रंग, पीले निकले दांत, साही के कांटों-सी बढ़ी दाढ़ी और वे आंखें जिनमें वहशियत और अवोधता का विचित्र खेल था । मैंने और ध्यान से देखा । कभी वे आंखें ऐसी वहशी हो उठतीं कि राह चलतों को खा जाएंगी । फिर 'गुलवदन प्याज़' कहती ऐसी मासूम हो उठतीं जैसे वह प्याज़ नहीं, फूल बेच रहा हो ।

हमें देखते ही वह बढ़ा—'प्याज़ लेंगी हुजूर ? गुलवदन प्याज आठ आने किलो···।' फिर शायद मेरे माथे पर लगी कुमकुम की बिन्दी को उसने देख लिया । उस बिन्दी को देखते ही धीरे से बोला—'रामजी के लड्डू प्याज आठ आने किलो ।' मैं समझ गई, वह मुसलमान था और मेरे हिन्दुत्व के आगे सिर झुका रहा था—'रामजी के लड्डू प्याज़ आठ आने किलो···।' शायद रामजी के नाम पर ही मैं प्याज़ खरीद लूं । उन

क्षणों उसकी वहशी आंखों में झांकता धर्म का अहसास कितना मासूम हो आया था !

'नहीं, नहीं हमें नहीं चाहिए।' मित्रा सख्ती से कहते बढ़ने लगे थे।

वह बढ़कर मेरे सामने आ गया—'ले लीजिए मेम साहब, नये-नये प्याज आठ आने किलो। आज ही मण्डी से खरीदकर लाया हूं। ऐसे प्याज आपको शहर में कहीं नहीं मिलेंगे। गुलबदन प्याज आठ आने किलो। सिर्फ आठ आने किलो। ले लीजिए न माजी। बोहनी कर दो हुजूर। कम्बख्त सवेरे से एक किलो प्याज भी नहीं बिका।' वह कहते-कहते दयनीय हो उठा। मैंने देखा, वह साफ झूठ बोल रहा था। प्याज तो कई किलो बिक चुका होगा। लेकिन झूठ भी कभी-कभी कितने निर्दोष होते हैं। उसके काले-कुरूप चेहरे पर चिपकी यह दयनीयता इतनी त्रासद हो उठी थी कि मैंने कहा, 'अच्छा दे दो एक किलो। उधर कार में दे जाना।'

मैं स्टियरिंग पर बैठ गई। मित्रा मेरे बगल में बैठ गए। वह दौड़ता-सा प्याज ले आया था। हांफता-सा प्याज का पैकेट पिछली सीट पर रखता खुद ही रहा था—'हुजूर, मैंने प्याज कागज में बांध दिए हैं। आपका मोटर खराब नहीं होगा। और घर जाकर ये प्याज आप पकाएंगी तो इस नाचीज को याद करेंगी। और बड़ी इनायत की सरकार, बोहनी कर दी। सलाम साब, सलाम मां।' वह एक सांस में कहे जा रहा था 'सलाम मां' कहती उसकी वहशी आंखें फिर अबोध हो उठी थीं।

'अब चलिए', मित्रा हिकारत से उसे देख रहे थे।

मैं कार चलाने लगी थी। अब मित्रा मुझे देख रहे थे—'आपके पास खड़ा वह ऐसा लग रहा था कि जी चाहा एक स्नैप ले लूं और शीर्षक दूं, 'ब्यूटी एण्ड द बीस्ट'...' जानवर !'

'जानवर' कहते मित्रा की लोलुप दृष्टि मेरी नारी-देह के मोहक उभारों पर लार टपकाने लगी थी। 'जानवर'...'हां, जानवर ही तो...,' मैंने वक्ष पर आंचल और ठीक करते मित्रा की ओर देखते कहा। 'जानवर' का अर्थ मित्रा कहां समझे !

मित्रा सोशियालॉजी में रीडर हैं, मैं हिस्ट्री में। घर लौटते वे अक्सर

साथ हो लेते हैं। 'लिफ्ट' की सुविधा से अधिक, उन्हें कोई और लोभ रहता है, मैं जानती हूं। यह लोभ उन अनेक पुरुष-आंखों में पशु-सा उछलता रहता है, जिनसे मैं घिरी रहती हूं। जब भी मैंने बोटी पर लार टपकाते किसी चार पैर वाले को देखा है, मुझे कई दो पैर वाले भी याद हो आए हैं।

दूसरे दिन भी मैं दोपहर के उसी समय कॉलिज से निकल रही थी। मित्रा भी साथ थे। 'गुलबदन प्याज़...' वह फटा स्वर चीख रहा था।

'गुलबदन तो आप हैं सुमित्रा जी!' मित्रा जैसे आंखों से मेरे मुख की बोटियां करने लगे थे।

सहसा वह फटा स्वर दब गया। कुछ शोर मचने लगा था। मित्रा बढ़े, ध्यान से देखा। लौटकर बोले—'लीजिए, आपके हीरो की पूजा हो रही है। साले की पिटाई हो रही है।'

'साला कम तोलता है। दे दो पुलिस में साले को। साला, नम्बरी हरामी है...' कई स्वर चीख रहे थे।

धूल झाड़ता वह उठ खड़ा हुआ था—'हां, हां, दे दो पुलिस में! तुम्हारे बाप का राज है। कौन कहता है मैं कम तोलता हूं। खुदा की कसम, ईमान से...' उसके मुंह से खून के कुछ कतरे छलक आए थे, शायद दांतों पर चोट लग गई थी। पसीने और धूल से सने उस पिटे चेहरे पर वे खून के कुछ कतरे एक विभीषिका से चमक रहे थे। वह काला चेहरा एक साथ दयनीय और भयावह हो आया था। 'साला खुदा की कसम खाकर बेईमानी करता है। ईमान का नाम लेता है बेईमान!' किसीने एक झापड़ और जड़ा।

'जाने दीजिए। छोड़ दीजिए।' एक बुज़ुर्ग बीच-बचाव करने लगे। धूप इतनी कड़ी थी कि शायद उस धूप में मार-पीट करना अधिक देर तक सम्भव भी नहीं था। उसे खून और पसीना पोंछते छोड़कर भीड़ हट गई थी।

तब तक उसने हमें देख लिया था—'सलाम साब, सलाम मां जी, गुलबदन प्याज़ आठ आने किलो, रामजी के लड्डू प्याज़...।' धीरे-धीरे कहता उसका स्वर आंखों की छलछलाहट में डूब गया। वह रो रहा था।

'प्याज़ तो नहीं चाहिए। यह एक रुपया वैसे ही ले लो।' मेरे भीतर भी कुछ उमड़ने लगा था।

'नहीं सरकार, भीख नहीं लूंगा। प्याज खरीदेंगी तो पैसे ले लूंगा।' उसने मैली, चीकट कमीज़ की बांह से आंखें पोंछ लीं।

'हां बेटा, भीख नहीं लोगे और बेईमानी करोगे। प्याज़ कम क्यों तौलते हो?' मिश्रा ने हिकारत से घुना व्यंग्य किया। टैरीकॉट के कीमती शर्ट-पेंट पहने तनकर खड़े मिश्रा और मैली, चीकट, फटी कमीज़-पाजामा पहने खून और पसीना बहाता वह। दोनों दो टांगों पर आमने-सामने खड़े थे...। और धरती चुपचाप अपनी गति से घूम रही थी।

'वो...वो तो व्यौपार है...' उसने हकलाकर कहा। उसकी आंखों में भय कांपा। कहीं मिश्रा भी दो-चार न जड़ दें।

'सुन रही हैं मिसेज़ गुप्ता, भाई व्यापार की फिलॉसफी भी जानता है!' मिश्रा इतनी निर्ममता से हंसे कि मेरे भीतर कुछ कटकर रह गया। उसने रक्त के वे कतरे पोंछ लिए थे। लेकिन मुझे लग रहा था कि उसका काला, भयावह चेहरा रक्त से सन गया है, सना जा रहा है।

मैं चुपचाप आकर कार में बैठ गई, कार स्टार्ट कर दी। मिश्रा मेरी बगल में आ बैठे थे। 'जानवर!' उन्होंने फिर कहा। मिश्रा के चेहरे पर वह निर्मम, क्रूर हंसी अभी भी चिपकी हुई थी। जी चाहा, मिश्रा से पूछूं—'सुसंस्कृत, सभ्य कहलाने वाले अपने नाखून और दांत कहां छिपा रखते हैं?' पूछा नहीं। मिश्रा मेरे उस प्रश्न का अर्थ भी कहां समझ पाते!

उस रात राजेन्द्र ने मुझे खींचा, कस लिया। कान के पास झुककर बोले, 'डियर, फोर फॉर्टी एट नम्बर याद रखना। मिश्रा से भी कह देना। पिछले साल बेचारा रह गया था।'

'कौन है यह?' मैंने पूछा।

'अरे, अपने मेडिकल अफसर के साहबज़ादे हैं। और अगर ये मेडिकल ऑफीसर मेहरबान हो जाएं तो गुप्ता मेडिकल स्टोर्स की तीसरी ब्रांच भी खुल जाए।'

'लेकिन यह गलत है।'

'आप भी सुमी जी, कभी-कभी बिलकुल नासमझी की बातें करने लगती हैं। इसमें सही-गलत क्या है ? आपको थोड़े-से नम्बर ही तो ज्यादा दे देने हैं। इतना 'गिव एण्ड टेक' तो चला ही करता है। और क्या आप नहीं चाहतीं कि आपके इस गुलाम की तरक्की हो !' राजेन्द्र ने आलिंगन और कस लिया था।

'खैर, मैं तो अपना काम कर दूंगी, लेकिन मिश्रा से नहीं कहूंगी। वह अच्छा आदमी नहीं है।' मैंने राजेन्द्र के वक्ष पर सिर टेक दिया था।

'मैं जानता हूं कि वह अच्छा आदमी नहीं है, लेकिन वह आपका क्या ले लेगा ? ज्यादा से ज्यादा कुछ देर और आंखें सेंक लिया करेगा। तो वो बेचारा भी क्या करे, आप चीज ही ऐसी हैं !' राजेन्द्र मुझे चूम रहे थे।

मिश्रा की लार टपकाती दृष्टि से समझौता कर लेने वाले अपने पति-पुरुष की बांहों में मैं कसमसाकर रह गई।

मैं उस उष्ण आलिंगन में पिघलने लगी थी और कुछ देर के लिए उस आलिंगन के सामने सारी फिलॉसफी बेमानी हो गई थी।

'आई लव यू सो मच सुमी। डू यू नॉट ?' राजेन्द्र नशे में डूब रहे थे।

'आई डू...' कहती मैं भी उस नशे में डूब गई थी।

कुछ देर बाद राजेन्द्र तृप्त होकर सो गए हैं। उनकी बांहें मेरे गिर्द लिपटी हुई थीं। मेरा भी तन तृप्त हो गया था। लेकिन मन उन गिर्द लिपटी बांहों पर सिर पटकने लगा था।

मैंने राजेन्द्र से समझौता कर लिया था, लेकिन स्वयं से समझौता करना कठिन हो रहा था। कभी-कभी सच भी कितने सड़-गल जाते हैं कि सुगन्ध के सारे छलावों के बावजूद उनकी दुर्गन्ध को स्वीकार करना कठिन हो जाता है।

राजेन्द्र कहते हैं—'इसमें गलत और सही क्या है...।' पापा भी तो कहते थे—'एवरी थिंग इज फेअर इन लव एण्ड वॉर', और बाईं आंख दबाकर जोड़ देते थे—'एण्ड इन बिजनेस।'

बियर का गिलास उठाए पापा से, मांग में ढेर-सा सिन्दूर-भरे मां

पूछती थीं—'इसका मतलब क्या होता है जी, हमें भी बताओ।'

पापा गिलास खाली कर देते थे। जोर से हंसते थे। फिर मुझे पुकारकर कहते थे—'सुमी बेटा, जरा अपनी मां को इसका मतलब समझा दो।'

पापा चले जाते थे। मैं मां को उन शब्दों के अर्थ समझाती थी। मां जाने क्या समझती थीं कि उदास हो जाती थीं।

एक दिन पापा ने चीखती मा को पकड़कर कमरे में बन्द कर दिया था—'खबरदार जो किसीने खोला।' उन्होंने ताला भी जड़ दिया था।

भीतर मा चीख रही थीं—'यह गलत है सुमी के पापा! यह गलत है। वे तुम्हारे दोस्त हैं, पड़ोसी हैं। उन्होंने तुमपर भरोसा करके जेवर तुम्हारे पास रखे और तुम उन्हें खा जाना चाहते हो।' मा सिर पटकने लगी थी और शायद बेहोश हो गई थी।

तीन दिन बाद मा कमरे से निकाली गईं तो बदल चुकी थी। उनकी आंखों में कोई भाव नहीं था। वे एक शब्द भी नहीं बोल रही थी। मैं उनसे लिपट गई थी, रो रही थी—'क्या हुआ मा?'

मा ने मेरे सिर पर हाथ फेरा, मुझे चूम लिया—'कुछ नहीं बेटी, मेरी पूजा खंडित हो गई। अब जीकर क्या करूंगी।' मैंने भी समझा, मां पागल हो गई हैं। पापा ने मुझे यही समझाया था कि मा पागल हो गई हैं।

रात को दूध पिलाते घर के पुराने नौकर शीबू काका से मैंने पूछा—'काका, क्या मां पागल हो गई हैं?'

शिबू काका की आंखें छलछला आईं—'नहीं बेटा, मांजी नहीं, बाबूजी पागल हो गए हैं धन के लोभ में। पड़ोस के बाबू राधाकृष्ण के घर कुड़की आई रही न, तो उन्होंने हजारों के जेवर दोस्त समझकर अपने बाबूजी के पास छिपा दिए रहे। और हमारे बाबूजी सब डकार गए··· कोई सबूत तो है नाहीं···।' शिबू काका मेरे सिर पर हाथ फेरने लगे थे। उस रात मैं ठीक से सो नहीं सकी। मुझे सारी रात डरावने सपने आते रहे। जैसे पापा मां की हत्या कर रहे हों, उनका गला दबा रहे हों, उन्हें

मार रहे हों।

दूसरे दिन करवा-चौथ थी। मां ने सदा की भांति व्रत नहीं रख... तो मुझे आश्चर्य हुआ—'आज व्रत नहीं करोगी मां? पापा के पैर नह... छुओगी?' मेरा मन पापा के पैर छूती मां और उनके सिर पर हाथ रखते 'हों' 'हों' हंसते पापा को एक साथ देखने के लिए अधीर हो उठा था।

लेकिन मां ने बेहद उदास स्वर में कहा था—'नहीं सुमी, अब मुझे स्वर्ग नहीं जाना है।'

और उसके बाद, उसी वर्ष मां स्वर्ग चली गई थीं।

उस रात मेरे गिर्द बांहें लपेटे, राजेन्द्र और 'एवरीथिंग इज़ फेअर इन लव एण्ड वॉर, एण्ड इन बिज़नेस' कहते पापा के बीच, प्याज़ काम तौलकर पिटता, धूल-पसीना और रक्त पोंछता, 'भीख नहीं लूंगा' और 'वो तो व्योपार है...' कहता वह आ खड़ा हुआ था। एक भयावह और शायद मजबूर सच...किन्तु घिनौना? नहीं, कदापि नहीं।

उस रात मैं सचमुच नहीं सो सकी थी।

दूसरे दिन हम पिक्चर देखने जा रहे थे। मैं कार निकाल रही थी कि एक मिट्टी का घड़ा लिए वह आ खड़ा हुआ—'कदमबोसी करता हूं हुज़ूर! एक घड़ा पानी ले लेने दें। बीवी बीमार है और मैं जब तक घर लौटता हूं सरकारी नल बंद हो जाता है...सिर्फ एक घड़ा पानी हुज़ूर।' वह बेहद थका लग रहा था, भूखा-प्यासा भी।

'ले लो।' मैंने इजाज़त दे दी। राजेन्द्र अपने नये सूट में मेरे पास ...थे। 'ये तुम्हारा कौन-सा मुरीद पैदा हो गया है। साला कितना ...'रिपल्सिव' है!' राजेन्द्र अपना 'सेंटेड' रूमाल निकालकर सूंघने लगे थे।

'कॉलेज के सामने प्याज़ बेचता है। शायद यहीं कहीं रहता है।' ...ने अनमने भाव से कहा था। उसे सामने देखते ही मेरे भीतर जो उठा-...क शुरू हो जाती थी, उसे झेलना कठिन हो जाता था। राजेन्द्र मेरे ...थी थे, लेकिन मेरी इस सारी उठा-पटक से अनजान ही बने रहते थे। ...के अनुसार मैं भी तो पागल हो जाती थी...वैसे...जैसे...पापा के

अनुसार मां पागल हो गई थीं।

घड़ा भरकर सलाम करता वह चलने लगा तो मैंने पूछा—'अरे भाई, तुम्हारा नाम क्या है?'

उसने घूमकर घड़ा रख दिया। एकदम से उल्लसित हो उठा। हाथ जोड़कर कहने लगा—'करीमबख्श हुजूर। मेरा नाम करीमबख्श है। बाप का नाम अल्लाबख्श, मां का नाम नूरी बेगम'''। पहले हम गांव में रहते थे। कुछ खेती-वाड़ी थी। पानी नहीं बरसा तो सब चौपट हो गया। भूखों मरने लगे तो शहर आ गए। यहीं आपके पिछवाड़े झोपड़े में बस गया हूं हुजूर, आगे की खुदा जाने'''।'

उसने अपनी आंखें आसमान की ओर उठा दी थीं। मैंने देखा, आसमान की ओर देखती उन भूखी-प्यासी आंखों में खुदा लड़खड़ा रहा था।'''

मैं उसकी आंखों से आंखें बचा रही थी। उसकी उन भूखी-प्यासी वहशी आंखों को देखते मेरे भीतर प्रश्न सिर पटकने लगते थे—कौन गढ़ता है ऐसी आंखें? वह ऊपर वाला जो नियतिवाद के नाम पर निर्मम होकर पुतले गढ़ा करता है? '''या ये नीचे वाले जो समाज और शासन के नाम पर दो टांग वाले को चार टांग वाले में तब्दील कर देते हैं'''?

वह घड़ा उठाकर चला गया था। राजेन्द्र कह रहे थे—'ठीक से सब लॉक कर दो सुमी, ये साले चोर होते हैं। मौके का फायदा उठाते हैं।'

मैंने कनखियों से राजेन्द्र को देखा। पिछली रात ही तो उन्होंने मुझे बार-बार चूमते, फोर फॉर्टी एट रोल नम्बर याद रखने को कहा था। और मुझे भी वह नम्बर याद हो गया था।

पिक्चर से लौटकर हम सोने जा रहे थे तो कोई ज़ोर-ज़ोर से फटे, बेसुर स्वर में गाने लगा था :

'साकी पीने दे शराब मसजिद में बैठकर
या वो जगह बता दे जहां खुदा न हो'

अशुद्ध उच्चारण में गलत-सलत ज़ोर-ज़ोर से उस शेर को दुहराता

वह फटा स्वर निश्चय ही करीम का था'''खुदा न हो'''खुदा न हो'''हो'''हो'''हो'''

वह चीख रहा था। निश्चय ही वह पिए हुए था। राजेन्द्र चिढ़ गए---'यह साला कौन है कम्बख्त, सोने भी नहीं देता। पिक्चर का सारा मजा किरकिरा कर दिया।' उन्होंने खीझकर खिड़की बन्द कर दी।

वह फटा स्वर मेरे भीतर एक आर्तनाद में प्रतिध्वनित हो उठा था। सारी रात मुझे लगता रहा जैसे करीम रो रहा हो'''

दूसरा दिन इतवार था। राजेन्द्र कहीं चले गए थे। पिछली दो रातों का सब कुछ भूलकर मैं नहा-धोकर सवेरे की ताजगी को पीती, अपने-आपको देख रही थी—कितना कोमल, सुगन्धित, संवेदित अस्तित्व है मेरा! अपने-आपमें डूबी ज़िन्दगी उन क्षणों कितनी कोमल, सुगन्धित हो आई थी! मैं कीट्स को पढ़ने लगी थी—'ए थिंग आफ ब्यूटी इज ए जॉय फॉर एवर'''।' जैसे कीट्स ने मेरी ही अभ्यर्थना कर दी हो!

आया आई, 'मेमसाब, वही मुआ फिर आया है। आपको पूछ रहा है।'

'कौन?' मैंने पूछा। मैं कीट्स की दुनिया में थी।

'वही जो कल शाम पानी लेने आया था। अब तो कम्बख्त ने घर देख लिया है।' आया बड़बड़ा रही थी।

मैंने कीट्स को परे रख दिया। बाहर आई। एक और दुनिया मेरे सामने आ खड़ी हुई थी—धूल और पसीने में नहाती, रक्त के कतरे पोंछती दुनिया'''! कोमलता और सुगन्ध का अर्थ भी न समझने वाला अस्तित्व'''उसके साथ चार बच्चे भी थे। वे सब मुझे झुक-झुककर सलाम करने लगे।

'सलाम करो सालो मेमसाब को! वह एक-एक के सिर पर हाथ रखकर परिचय करा रहा था—'यह रहीम है, यह हमीद, यह बेटी अमीना और यह मेरा जहांगीर'''।' उसने सबसे छोटे की बहती नाक अपनी चीकट कमीज से पोंछ दी। उसे गोद में उठा लिया'''। वह ऐसा तन्मय हो उठा था जैसे इबादत कर रहा हो।

काले-कलूटे, नाक सुड़कते, गन्दे घिनौने वे चार'''जैसे गटर में

बिलबिलाते कीड़े हों। मैं उन्हें देखने से आंखें बचा रही थी।

'क्यों भई, क्या काम है', मैं रूखी हो उठी थी। मुझे कीट्स की दुनिया से निकल आना बुरा लग रहा था।

'कदमबोसी करता हूं हुजूर! गुलाम के लायक कोई काम? कल आपने पानी ले लेने दिया नहीं तो हम प्यासे मर जाते'''।' कृतज्ञता प्रकट करती उसकी वहशी आंखें फिर मासूम हो उठी थीं। वह एक घड़ा पानी के लिए कृतकृत्य हुआ जा रहा था। कीट्स की दुनिया वाले तो दावत खाकर भी कृतज्ञ नहीं होते।

'कल रात तुमने हमें सोने नहीं दिया। तुम इतनी ज़ोर-ज़ोर से गा क्यों रहे थे? जानते नहीं कि वह समय आराम का होता है?' मैंने सख्ती से कहा।

'माफ कर दें हुजूर, गलती हो गई। कान पकड़ता हूं।' उसने सचमुच कान पकड़ लिया। उसके बच्चे हंसने लगे थे। मैं सोचने लगी, इसका पितृत्व भी कितना मजबूर, कितना विरूप है'''। शायद व्यक्ति कुछ नहीं होता, उसकी स्थितियां ही सब कुछ होती हैं। रौंद देने वाली, रक्त की आखिरी बूंद तक चूस लेने वाली। विरूप कर देने वाली स्थितियों में आदमी आदमी कहां रह पाता है? उसका कार्टून बन जाता है या वह कंकाल-मात्र रह जाता है।

उसके बच्चे हंस रहे थे। वह कार्टून हो उठा था।

'तुम जो गा रहे थे उसका मतलब भी समझते हो?' मेरा जी चाहा कि उसके दिल-दिमाग का कुछ अन्दाज़ा लगाऊं कि यह अपना दर्द भी समझता है।

'अरे हुजूर, हम मतलब क्या समझेंगे? उस शेर में खुदा का नाम था, मसजिद का नाम था, कुछ पीने-पिलाने की बात थी तो बस गाने लगे थे। और हुजूर की नींद खराब कर दी। हम तो जीने का भी मतलब नहीं समझते, ज़िन्दगी का भी नहीं। बस पैदा हो गए हैं, लात-जूते खाते जीते रहेंगे जब तक जीना है, फिर मर जाएंगे जैसे हमारे मा-बाप मर गए'''चार-चार बच्चे मर गए और अब बीवी भी मर जाएगी। कम्बख्त खून थूकने लगी है। साली के लिए बोरिया भी ढोनी पड़ रही

हैं कि कुछ दवादारू का इन्तज़ाम हो सके···। मर भी जाए तो छुट्टी मिले। फिर जी भरकर पिएंगे। अभी तो साली बड़ा तुफान खड़ा करती हैं···।' उसकी आंखें दर्द के किसी अनकहे अहसास को कह रही थीं···। उन आंखों में जैसे कुछ चमककर बुझ गया था और ढेर सारा धुआं भर गया था।

अचानक वह अपनी मां को गाली देने लगा—'साली मेरी मां चोट्टी, कुतिया थी। आप तो छालियां कुतरती बैठी रहती और हम पांचों को भीख मांगने भगा देती। मैं भीख नहीं मांगता था, चोरी कर लेता था। मैं खाने की चीज़ें चुराता था और जो मिलता था उसे अकेले ही खा जाता था। साली भूख ही इतनी लगती थी···। मैं बचपन में सोचा करता था कि बड़ा होकर एक रोटियों का पेड़ लगाऊंगा···फिर जी भर-कर रोटियां खाऊंगा। भूख तो साली आज भी उतनी ही लगती है···।' वह होंठों पर ज़बान फेरता चुप हो गया था।

इधर-उधर देखती उसकी लोलुप नज़र दुम हिलाने लगी थी। शायद वह किचन से उठती पकवानों की गंध सूंघने लगा था।

कुछ क्षणों बाद मैंने सुना, जैसे वह अपने-आपसे कह रहा था—'अगर आप जैसी कोई हमारी मां होती तो हम भी इन्सान होते···।'

सहसा मेरी आंखों में इतिहास के शिवाजी घूम गए, जैसे वे गौहर बानू से कह रहे हों—'अगर आप जैसी सुन्दर मेरी मां होती तो आज शिवा भी एक खूबसूरत सरदार होता···!' लेकिन कहां शिवाजी का देदीप्यमान, उज्ज्वल, ज्वलंत चरित्र और कहां यह वीभत्स, वहशी जान-वर जैसा करीम···!

कैसी तुलना कर रही हूं मैं? कहीं मेरा दिमाग सचमुच तो खराब नहीं हो गया···?

फिर लगा, जैसे वह कहना चाह रहा हो—'मैं जानवर तो हूं, लेकिन इन्सान बनने की कोशिश करता रहा हूं···'

किंतु, यह कहना भी उसे कहां आता था!

चार दिन और

अपनी अधी आखें झपकाते लाला बाबू लकड़ी के पुराने तख्त पर परसकर बैठ जाते। उनका तख्त भी उन-सा ही पुराना था। जैसे उनका जोड़-जोड़ हिलता था वैसे ही उनके तख्त का भी। देखनेवालों को यही अचम्भा लगता कि लाला बाबू के खुज शरीर में प्राण आखिर कहां अटके हुए हैं। लेकिन लाला बाबू अपने 'अब टूटा तब टूटा' तख्त के समान ही कायम चले जा रहे थे।

ठीकरे-सा खुरखुरा चेचक के दागों-भरा मुख, जिसपर झरबेरी के कांटों-सी दाढ़ी उगी ही रहती। धंसे कोटरों में अन्धी पुतलियां पर-कटे पंछी-सी फड़फड़ाया करतीं। आधा अंग तो हिलता ही रहता बाकी आधा स्वस्थ होने पर भी सींक-सलाई था। वे दो कदम चलने में तीन हिचकोले खाते, अत. अधिकतर बैठकर ही घिसट लिया करते।

बारह वर्ष की आयु में चेचक के प्रकोप से आखें गवाकर भी लाला बाबू अपनी विधवा मां की आखों के तारे रहे आये। मा जब तक जीवित रहीं किसी भी प्रकार अपने अन्धे-असहाय इकलौते पुत्र को कलेजे से लगाए रहीं। जब मा की मृत्यु हुई तो लाला बाबू पच्चीस वर्ष के किन्तु उनका दाहिना हाथ और पैर बेकार हो चुका था। वे पैर घसीटकर चलते और हिलते हाथ से बड़ी मुश्किल से कुरता पहन पाते।

मां की मृत्यु के बाद अपने घिसटते पैर को घसीटते लाला बाबू शहर के अपने एक धनाढ्य सम्बन्धी के यहां पहुंचे। अन्धी आंखों को झपका-कर हिलते हाथ जोड़कर किया गया उनका निरीह नमस्कार सेठ जुगल-किशोर को हिला गया। लाला बाबू के पड़े रहने के लिए एक कोठरी और दो जून खाने की व्यवस्था हो गई।

हैं कि कुछ दवादारू का इन्तज़ाम हो सके'''। मर भी जाए तो छुट्टी मिले। फिर जी भरकर पिएंगे। अभी तो साली बड़ा तुफान खड़ा करती हैं'''।' उसकी आंखें दर्द के किसी अनकहे अहसास को कह रही थीं'''। उन आंखों में जैसे कुछ चमककर बुझ गया था और ढेर सारा धुआं भर गया था।

अचानक वह अपनी मां को गाली देने लगा—'साली मेरी मां चोट्टी, कुतिया थी। आप तो छालियां कुतरती बैठी रहती और हम पांचों को भीख मांगने भगा देती। मैं भीख नहीं मांगता था, चोरी कर लेता था। मैं खाने की चीज़ें चुराता था और जो मिलता था उसे अकेले ही खा जाता था। साली भूख ही इतनी लगती थी'''। मैं बचपन में सोचा करता था कि बड़ा होकर एक रोटियों का पेड़ लगाऊंगा'''फिर जी भरकर रोटियां खाऊंगा। भूख तो साली आज भी उतनी ही लगती है'''।' वह होंठों पर ज़बान फेरता चुप हो गया था।

इधर-उधर देखती उसकी लोलुप नज़र दुम हिलाने लगी थी। शायद वह किचन से उठती पकवानों की गंध सूंघने लगा था।

कुछ क्षणों बाद मैंने सुना, जैसे वह अपने-आपसे कह रहा था—'अगर आप जैसी कोई हमारी मां होती तो हम भी इन्सान होते'''।'

सहसा मेरी आंखों में इतिहास के शिवाजी घूम गए, जैसे वे गौहर बानू से कह रहे हों—'अगर आप जैसी सुन्दर मेरी मां होती तो आज शिवा भी एक खूबसूरत सरदार होता'''!' लेकिन कहां शिवाजी का देदीप्यमान, उज्ज्वल, ज्वलंत चरित्र और कहां यह वीभत्स, वहशी जानवर जैसा करीम'''!

कैसी तुलना कर रही हूं मैं? कहीं मेरा दिमाग सचमुच तो खराब नहीं हो गया'''?

फिर लगा, जैसे वह कहना चाह रहा हो—'मैं जानवर तो हूं, लेकिन इन्सान बनने की कोशिश करता रहा हूं'''

किंतु, यह कहना भी उसे कहां आता था!

चार दिन और

अपनी अंधी आंखें झपकाते लाला बाबू लकड़ी के पुराने तख्त पर परसकर बैठ जाते । उनका तख्त भी उन-सा ही पुराना था । जैसे उनका जोड़-जोड़ हिलता था वैसे ही उनके तख्त का भी । देखनेवालों को यही अचम्भा लगता कि लाला बाबू के लुंज शरीर में प्राण आखिर कहां अटके हुए हैं । लेकिन लाला बाबू अपने 'अब टूटा तब टूटा' तख्त के समान ही कायम चले जा रहे थे ।

ठीकरे-सा खुरखुरा चेचक के दागों-भरा मुख, जिसपर झरबेरी के कांटों-सी दाढ़ी उगी ही रहती । धंसे कोटरों में अन्धी पुतलियां पर-कटे पंछी-सी फड़फड़ाया करतीं । आधा अंग तो हिलता ही रहता बाकी आधा स्वस्थ होने पर भी सींक-सलाई था । वे दो कदम चलने में तीन हिचकोले खाते, अतः अधिकतर बैठकर ही घिसट लिया करते ।

बारह वर्ष की आयु में चेचक के प्रकोप से आंखें गवाकर भी लाला बाबू अपनी विधवा मां की आखों के तारे रहे आये । मां जब तक जीवित रहीं किसी भी प्रकार अपने अन्धे-असहाय इकलौते पुत्र को कलेजे से लगाए रहीं । जब मां की मृत्यु हुई तो लाला बाबू पच्चीस वर्ष थे किन्तु उनका दाहिना हाथ और पैर बेकार हो चुका था । वे पैर घसीटकर चलते और हिलते हाथ से बड़ी मुश्किल से कुरता पहन पाते ।

मां की मृत्यु के बाद अपने घिसटते पैर को घसीटते लाला बाबू शहर के अपने एक धनाढ्य सम्बन्धी के यहां पहुंचे । अन्धी आंखों को झपका-कर हिलते हाथ जोड़कर किया गया उनका निरीह नमस्कार सेठ जुगल-किशोर को हिला गया । लाला बाबू के पड़े रहने के लिए एक कोठरी और दो जून खाने की व्यवस्था हो गई ।

उसके बाद पच्चीस लम्बे वर्षों का इतिहास अन्धी आंखों और हिलते अंगों का अंधेरा, आंधियों में थरथराता इतिहास रहा आया। देखने वाले करुणा से विगलित होकर लाला बाबू की मृत्यु की कामना किया करते पर लाला बाबू ने अन्धी आंखों से देखना और अपंग अंगों से जीना सीख लिया था।

सवेरे पड़ोस के रहमान मियां का मुर्गा बांग देता कि लाला बाबू उठ बैठते। शौचादि से निबटने का कार्यक्रम उनके लिए बड़ा कष्टप्रद था। काबू से बाहर अंगों से काम लेने में उन्हें बड़ा ज़ोर लगाना पड़ता। लूली टांग मुड़ने में मुड़-मुड़ जाती और हिलता हाथ बड़ी देर में धोती बंधवा पाता। दूसरी दिक्कत यह थी कि सेठजी की हवेली में नौकरों की भीड़ थी किन्तु शौचालय एक ही था। अब यदि लाला बाबू किसी दिन समय पर चूक जाते तो उनका नम्बर आने में सवेरा बीत जाता। इसके अतिरिक्त यदि उन्हें निबटने में अतिरिक्त देर लगती तो प्रतीक्षा में खड़े उन्हें खरी-खरी सुना देते, 'ससुरा साइत कौआ खाकर आवा है। न मरै न पिंड छूटै।'

इसके बाद लाला बाबू को चाय की प्रतीक्षा रहती जो उन्हें कभी मिलती कभी न मिलती। सवेरे की ठंडी हवा उनके दुखते अंग सहलाती, स्नान की ताज़गी उनके बासी तन-मन को झकझोरती तो वे चाहते कि दो मिनट हरि-स्मरण कर लें लेकिन जब-जब वे ध्यान लगाना चाहते उनके सामने भोजन की थाली आ जाती और वे केवल यही सोचते रह जाते कि देखें आज का दिन कैसे बीतता है अर्थात् आज क्या भोजन मिलता है ?

आंखों की कमी को लाला बाबू के नाक-कान पूरी करने में लगे रहते। आज जीरे से अरहर की दाल छौंकी गई है या मेथी से बैंगन बघारा गया है इसकी खबर लाला बाबू की नाक उन्हें बिना चूके देती। हवेली के पिछवाड़े चौक के एक ओर रसोई थी और दूसरी ओर लाला बाबू की कोठरी। रसोई में पकते भोज्य पदार्थों की उड़ती सुगन्ध से लाला बाबू के नथुने फड़कने लगते, जीभ गीली हो जाती और वे तख्त पर पसारे बैठे या पड़े उस सुगन्धि के सागर में डुबकियां लगाया करते।

कान भी नाक से पीछे न रहते। सारे परिवार के सदस्यों को व नौकरों को लाला बाबू उनके स्वर से पहचान लेते थे। ये गूंजती आवाज सेठजी की है, ये पतली-तीखी आवाज मालकिन की। खनकती आवाज में सेठजी का खास नौकर हरीराम गुर्राता है और बैठे-से गले से महराजिन बकती हैं।

इस सारी भीड मे बैठे-से गले से बकनेवाली महराजिन का लाला बाबू से बकने-झकने का नाता रहा आया। लाला बाबू रसोई से उड़ती गन्ध को निकट से सूघने के लिए जब-तब रसोई तक पहुंच जाते और खीसें निपोरकर पूछते, 'का हो महराजिनजी, आज का बनाय रही हो ?'

अपने चिढ़चिड़ाने के लिए बदनाम महराजिन सुलग उठती, 'तोहार सिर, अउर का। अरे लाला, तोहका औरउ कछु फिकर है कि रात-दिन खावे में ही परान धरे रहत हैं। अरे हम कहा चार घडी भगवानउ का भज लिया करो। ई जनम मे तो ई सासत होय रही है अगले मे जाने का होई।'

सुनकर लाला बाबू देर तक 'ही ही खी खी' करते हसते और खडी बोली मे उत्तर देते, 'अरे भगवान और क्या करेगा इस जनम मे एक हाथ और एक टाग दी है अगले मे वो भी नही देगा।' और जैसे अपने इस उत्तर से भगवान को चुनौती देते लाला बाबू एक तृप्ति की सांस भरते।

महराजिन ही दोनो समय लाला बाबू का भोजन उनकी कोठरी मे दे जाती और ऐसा कभी न हुआ कि वह बिना दो-चार सुनाए रह जाती हो। फिर भी लाला बाबू कान खडे किए महराजिन के पैर पटकते आने की आहट का इन्तजार किया करते। फिर थाली को सामने रखे वे देर तक भोजन के एक-एक कौर का दिव्य आनन्द लिया करते। मोटे-झोटे चावल और रूखे-सूखे टिक्कड के साथ जरा-सी सुगन्धित दाल और चटपटी सब्जी के कुछ टुकडे उन्हे तृप्त कर देते। कभी-कभी मिठाई के एक टुकडे या दही या अचार की दुर्लभ प्राप्ति उन्हे गद्‌गद कर देती।

सेठ परिवार मे ब्याह होता तो लाला बाबू बार-बार उंगलियों पर

गिनकर उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा केवल इसलिए करते कि उन्हें बढ़िया माल खाने को मिलेगा। बढ़िया तर माल की भेंट लिए ऐसी शुभ घड़ी उनकी स्मृति में अमर हो जाती।

भोजन के इस लगाव के अतिरिक्त एक लगाव और कभी उनके मन में जागा था। वे बारह वर्ष की आयु में अन्धे हुए थे—अतः स्त्री क्या होती है यह जानते थे। पच्चीस वर्ष की आयु में जब वे हवेली में रहने आए तो शरीर की दयनीय दशा होने पर भी मन में कहीं कुछ जाग-जाग उठता था। हरिराम के लड़के छोटू से वे पूछते कि महराजिन देखने में कैसी है? आठ वर्ष का छोटू जवाब देता, 'चुड़ैल है चुड़ैल' और भाग जाता। लेकिन यही चुड़ैल लाला बाबू की अन्धी आंखों में परी बन गई। महराजिन की नारी-देह की गन्ध से, जिसमें पसीने की भभक होती, लाला बाबू का तन-मन गमक उठा। एक दिन भोजन की थाली सामने रखती महराजिन को उन्होंने अपने बायें हाथ से लपेट लेना चाहा। महराजिन छिटककर हटी तो थाली उलट गई। महराजिन लाला बाबू के मुंह पर दो तमाचे जड़कर चली गई। लाला बाबू को तमाचों का तो अफसोस नहीं हुआ पर उस दिन उन्हें भूखे रहना पड़ा। वे कुड़कुड़ाती आंतों की व्यथा कदापि न सह पाते थे। महराजिन से बात बढ़ाने पर कहीं फिर भूखा न रहना पड़े इसीलिए उन्होंने फिर बात बढ़ाई ही नहीं। फिर भी इतना अवश्य था कि महराजिन से उन्हें लगाव लगता। वे अपनी सूनी कोठरी में पड़े-पड़े अपनी अन्धी आंखों में महराजिन के अनेक चित्र बनाया और मिटाया करते।

लाला बाबू का आधा दिन भोजन के फेर में कटता और आधा दिन अपने शरीर की कोठरी और चौक की उलट-फेर में। वे कोठरी से चौक में पहुंचते फिर चौक से कोठरी में उतर आते और इतने में ही उनके शरीर में इतनी पीड़ा होती कि वे कराहकर रह जाते।

बच्चे चिढ़ाते, महरियां ताने कसतीं, नौकर गुर्राते; लेकिन लाला बाबू को उपेक्षा करना आता था। इसी सर्वजयी उपेक्षा के सहारे उनकी उपेक्षित जिन्दगी कटती रही।

लाला बाबू के इस नाम की भी विशेषता थी। बचपन में मां उन्हें

लल्लन कहती थी। लल्लन अन्धा होकर बेहद हठी हो गया। बात-बात पर ज़िद करता, रोता। मां मनाने के लिए कहती, 'ओ मेरे लाला बाबू, आ रे, अब तो मान जा।' 'लाला' और ऊपर से 'बाबू'—लल्लन की नियति से अपमानित आत्मा सम्मानित हो जाती। धीरे-धीरे वह लल्लन कहलाने से इतना चिढ़ने लगा कि पड़ोस के एक लड़के को लल्लन कहने पर दांत काट बैठा। लल्लन नाम के प्रति यह हिंसात्मक विद्रोह लल्लन को लाला बाबू बना गया।

लाला बाबू बारह से बयालीस वर्ष के हो गए पर आज भी यदि कोई उन्हें लल्लन कहता तो वे निश्चय ही उसे दांत काट बैठते। लाला बाबू के संबोधन से युक्त पग-पग पर मिला अपमान उन्हें इतना न चुभता। 'कुछ भी हो, लोग मुझे मख मारकर कहते तो लाला बाबू ही हैं,' वे अपने-आपसे कहते और अकेले में सिर उठाकर तन जाते।

तैंतालीस वर्ष के होते-होते लाला बाबू के अपंग अंग गलने लगे। जितना उठ-बैठ पाते थे उतने में भी उन्हें और कष्ट होने लगा, शरीर घावों से भर गया।

दो बरस ऐसे भी बीते। कष्ट बढ़ता गया। खाना-पीना छूट गया, घावों से मवाद रिसने लगा। यहां तक कि महराजिन का पत्थर कलेजा भी उनकी तड़पन से हिल गया। 'ऐसी दुर्दशा, हरे राम! अब तो इनकी मिट्टी समेट लेहु प्रभु,' कहती महराजिन अपनी उमड़ती आंखें पोंछ रही थी।

लाला बाबू की चेतना धूमिल हो रही थी, असह्य कष्ट में वे कुछ बुद-बुदा रहे थे। महराजिन ने कान लगाए, 'तुम्हारी बिटिया का ब्याह फागुन में है न महराजिन! चार दिन और जी लेता तो बिटिया का ब्याह देख लेता···' लाला बाबू डूबते स्वर में कह रहे थे।

स्वयंवर

"मोहनलाल, अटेन्शन प्लीज !" मैंने कहा ।

वह सकपकाकर खड़ा हो गया, "प्रेज़ेण्ट, मैडम !" मेरे साथ सारा क्लास हंस पड़ा ।

"मैं हाज़िरी नहीं ले रही थी, मोहनलाल, वह तो मैं ले चुकी हूं । तुम प्रेज़ेण्ट हो, देख भी रही हूं । मैं तो कह रही थी, अटेन्शन प्लीज, यानी कि ध्यान इधर दो ! मैं पढ़ा रही हूं और तुम कहीं और हो !"

उसने सिर झुका लिया । मोहनलाल एक सरल-सा, निर्दोष युवा मुख, जो मुझे अपनी निर्दोषिता के कारण अलग-सा लगता था । अलग-सा, अर्थात् अच्छा-सा ! कलमें और मूंछें बढ़ाए, टेरेलिन की शर्ट-पैण्ट कसे, उद्दण्ड चेहरों और दिशाहीन आंखों की भीड़ में मोहनलाल की दिशा को खोजती-सी आंखों वाला वह मुख मुझे प्रिय लगने लगा था । प्रायः मैं देखती थी, वह खोया-सा रहता है···किस लक्ष्य की तलाश है इसे ?

मैं कवि पन्त को पढ़ा रही थी—

"और भोले प्रेम ! तुम क्या हो बने
वेदना के विकल हाथों से ? जहां
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है !
पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं,
बस बिना सोचे हृदय को छीन कर
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में"···

मैंने फिर देखा, मोहनलाल कहीं और था । मैंने उसकी दृष्टि की

दिशा की ओर देखा। सहसा 'कुछ' मेरी आंखों में स्पष्ट हो गया। लड़कियों की बेंच पर सबसे अन्तिम बैठी वह लड़की, मोहन की आंखों को केन्द्रित किए थी। वह राधा थी—राधा श्रीवास्तव। क्लास की सबसे शान्त लड़की। वॉयल की सस्ती साड़ियां पहनने वाली लड़की। मुख पर पाउडर तो क्या, केशों में तेल भी नहीं होता था। कुछ भी तो नहीं था उसके पास, जिसे किसी कवि की उपमा से जोड़ा जा सके···। किन्तु··· मैंने उन क्षणों राधा को ध्यान से देखा···किसी भी कवि-उपमा में न जुड़ने वाली उस लड़की के पास केवल एक जोड़ी ऐसी आंखें थीं, जिनमें पन्त की वे सारी पंक्तियां प्रतिच्छवित हो रही थीं। न वे आंखें हिरनी जैसी थीं, न कमल जैसी, बस, उन आंखों में पन्त की केवल वे पंक्तियां, या उनके स्वर ऐसे प्रतिच्छवित हो रहे थे, जैसे वे राधा के स्वयं के अन्तस् के स्वर हों। हां, राधा की आंखें स्वरमयी थीं। और मोहन···कदाचित् उन आंखों के स्वर में ही डूब रहा था।

रोशनदान से आती धूप की एक लकीर मोहन से राधा तक बिछी हुई थी···जैसे प्यार की रोशनी का एक सेतु उन्हें जोड़ रहा था···। प्रेम के सारे यथार्थ को, यथार्थ की ही निर्मम आंखों से देख और परख चुकी मैं, उन क्षणों बरबस भावुक हो उठी···जी चाहा, उस सेतु को आशीर्वाद दूं कि वह सदा जुड़ा रहे, कभी न टूटे!

प्यार···प्रेम···मानव की सबसे कोमल और सबसे प्रबल संवेदना···होंठों से आत्मा तक फैली सबसे तीव्र प्यास···आंखों से प्राणों तक छाया सबसे मोहक सम्मोहन! किन्तु यही प्यार, जिन्दगी की निर्मम सच्चाइयों के बीच या तो जी नहीं पाता, या एक विद्रूप बन जाता है। और मैंने प्यार को छलना बनते देखा है, भ्रम भी···जीवन का सबसे बड़ा झूठ भी। जो प्रेम वाल्मीकि से पन्त तक काव्य का आधार रहा है, जो प्यार आदम और हव्वा के प्रथम निर्वाक् चुम्बन से लेकर आज तक के इस सभ्य युग के प्रति मुखर हो उठे नारी और पुरुष के होंठों को बांधे रहा है, वही प्यार हत्याएं भी करता रहा है···आत्महत्याएं भी। कितना मोहक, किन्तु कितना भ्रामक! कितना रससिक्त सत्य, किन्तु कितना निर्मम झूठ भी!

फिर उस दिन, पन्त को पढ़ाते, सामने बैठे राधा और मोहन से मेरी दृष्टि बार-बार उलझती रही···क्या इनके ये नाम मात्र संयोग हैं, या ये नाम इनकी नियति होने जा रहे हैं ? मैंने यह भी देखा, मोहन टेरेलिन के कीमती कपड़े पहने था। जानती थी, शहर के धनी सेठ का बेटा है। किन्तु लगा, जैसे वह उन कपड़ों से जुड़ा नहीं था···जैसे उन कपड़ों की कीमत मोहन के लिए अर्थहीन थी। फिर यह भी देखा, उस दिन राधा वॉयल की फूलों वाली एक सादी-सी साड़ी पहने थी। उन फूलों के रंग भी शायद बहुत धुलने के कारण फीके पड़ गए थे। किन्तु उन फीके फूलों की प्रतिच्छवि राधा की आंखों में गहरी हुई जा रही थी···शायद राधा के भीतर कहीं वसन्त जाग उठा था।

मोहनलाल और राधा के कपड़ों के अन्तर को देखती मैं उदास हो उठी थी। जाने कितनी बार देख चुकी थी, ये अन्तर मिटाए नहीं जा पाते, या मिटाए नहीं जा सकते। ये अन्तर जाने कैसी अभेद्य दीवार बनकर बीच में खड़े हो जाते हैं कि उन्हें तोड़ पाना असम्भव हो जाता है ···और फिर ये अन्तर मिटते नहीं, मिटा देते हैं !

ओह, शायद मेरा ही दिमाग खराब हो गया है। पन्त को पढ़ाते-पढ़ाते मेरी ही कल्पना बहक गई है, वरना, को-एजुकेशन के इस युग में कॉलिज में हर मोहन किसी राधा के या हर राधा किसी मोहन के चक्कर में है···। चक्कर में···प्रेम के नाम पर खेल-सा खेलते आज के स्वतन्त्र युवक-युवतियों के बीच प्रचलित एक प्रैक्टिकल लफ्ज ! 'अरे मेरी जान ! डोण्ट मेक लाइफ ए टैबू !' वे एक-दूसरे से कहते हैं। पूर्व ने संसार को आत्मा का दर्शन दिया था···दिया होगा···। अब तो पश्चिम पूर्व को देह का दर्शन दे रहा है···और इस दर्शन के पास 'बी प्रैक्टिकल' का ऐसा अस्त्र है कि सारी उलझनों को एक ही झटके में काटकर फेंक देता है···'आत्मा जाए चूल्हे में···देह तो स्वतन्त्र है, मगन है, तृप्त है ! आत्मा को तुमने देखा है क्या ? फिर आत्मा के सत्य की बात क्यों करते हो ? देह के सत्य को केवल देह के स्तर पर जिओ··· ईट, ड्रिंक एण्ड बी मेरी एण्ड फॉरगेट द रेस्ट !' अब आज की युवा पीढ़ी के होंठों के बीच एक 'प्रैक्टिकल' समझौता है।

× × ×

मैं लाइब्रेरी में थी। मोहनलाल आया, 'आपको डिस्टर्ब कर सकता हूं, मैडम···?'

मैं व्यस्त थी, किन्तु मोहन को टालना मेरे लिए सम्भव नहीं था। युवा चेहरों की रोज़ देखी जाती भीड़ में मोहन का चेहरा अलग खड़ा था···और कहीं उस चेहरे ने मुझे बांध लिया था।

'आओ, बैठो! कोई कठिनाई है क्या···? पन्त समझ में नहीं आए क्या?' मैंने परिहास किया।

'नहीं, मैडम! पन्त तो इतने समझ में आ गए हैं कि उन्हें जीने के के लिए आतुर हो उठा हूं!' मोहनलाल की आतुरता उसके होंठों पर कांप रही थी।

'देखो मोहन, क्षमा करना यदि मैं कोई निर्मम बात कहूं···सत्य निर्मम ही होता है। पन्त को केवल पढ़ो, जीने की कोशिश मत करो··· मुश्किल में पड़ जाओगे! बी प्रैक्टिकल!' यह 'बी प्रैक्टिकल' मैं कह रही थी, या मुझे कहना पड़ रहा था···? कभी मैंने भी तो प्यार के किसी मोहक सत्य को जीना चाहा था···लेकिन सम्मोहन टूटा···और इतनी चोट लगी थी कि प्रेम मेरे निकट केवल एक चोट का पर्याय बनकर रह गया था। मैं मोहन को उस चोट से बचाना चाहती थी।

'मुश्किल में तो पड़ चुका हूं, मैडम! इसीलिए आपके पास आया हूं कि कोई राह बताएं कि···' वह सहसा चुप हो गया।

'पहले तुम मुश्किल तो बताओ!' मैं देख रही थी, मोहन के होंठ अब भी कांप रहे थे, कांपे जा रहे थे, और सांसें असन्तुलित हो उठी थीं।

'मैडम···मैं राधा से प्रेम करता हूं···राधा श्रीवास्तव से···!' मोहन की सांसें गहरी हो उठीं।

'जानती हूं।' मैंने सख्ती से कहा। सोचा कि कुछ देर के लिए इतनी निर्मम हो उठूं कि मोहन की आंखों में उभरते सपनों का दम घोंट दूं। ये सपने जी सकेंगे, मुझे कोई विश्वास नहीं था···मोहन के कपड़े बहुत कीमती थे और राधा की साड़ी के फूलों के रंग बहुत फीके···और इस अन्तर को पाटना असम्भव था।

'राधा भी आई है'''बाहर खड़ी है'''।' मोहन ने कहा, जैसे कह रहा हो, उसे बुला लीजिए।

'ओह, तो बाहर क्यों खड़ी है ? बुलाओ न उसे !' मोहन राधा को बुलाने चला गया था और मैंने कालिदास के मेघदूत के अनुवाद की पुस्तक को बन्द करके रख दिया था। सामने आ खड़े हुए राधा और मोहन के सम्मुख कालिदास के यक्ष और यक्षप्रिया अर्थहीन हो उठते थे। प्यार को जीने का अधिकार, विश्वास या साहस मांगते राधा और मोहन'''हाड़-मांस के दो सजीव पुतले'''जो घुमड़ते बादलों से नहीं, मुझसे अपना सन्देश कह रहे थे। कैसा विद्रूप था कि वे मेरे सामने दो कुर्सियों पर पास-पास बैठे थे'''और उनके बीच इतनी दूरियां थीं कि वे कालिदास के यक्ष और यक्षप्रिया-से ही विरहाकुल थे'''कातर''' विह्वल'''उन्मादी ! किन्हीं अदृश्य पर्वतों के शिखरों पर वे आलिंगन के लिए विभोर भुजाएं फैलाए आ खड़े हुए थे !

मैंने स्वयं को निर्मम बनाने की एक और चेष्टा की, यद्यपि भीतर ही भीतर मैं पिघलकर बहने लगी थी, 'आओ, राधा, कितनी बार देखी है 'बॉबी' तुमने ? सच कहना !' मैंने अति निर्मम व्यंग्य किया।

'यदि आप विश्वास कर सकें, दीदी, तो केवल एक बार और वह भी इसलिए कि सहेलियां खींच ले गई थीं !' राधा आंखें नीची किए साड़ी के आंचल को उमेठ रही थी।

'और मुझे तो एक बार भी नहीं देखने दिया ? कहती है, 'बॉबी' में प्यार का खेल, प्यार का अपमान है !' मोहन की आंखें चमक उठी थीं, 'मैडम, राधा ने तो 'परिणीता' आठ बार देखी है, पूरे आठ बार '''सात बार तो मेरे साथ !' मोहन हंस रहा था।

मुझे लगा, 'परिणीता' को सात बार मोहन के साथ देखने वाली राधा सात भांवरें तो ले चुकी'''अपने हृदय में प्रज्वलित किसी अदृश्य अग्नि के सम्मुख ! और आधुनिक युग की एम० ए० की छात्रा इस राधा ने फिर 'बॉबी' के आलिंगन नहीं दुहराए, शायद गले में आंचल डालकर किसी 'परिणीता'-सी ही मोहन के पैर छूकर अपनी मांग भर ली है'''लेकिन नहीं, यह 'बॉबी' का युग है। 'बॉबी' ने देह की उन्मुक्तता के

साथ प्रेम की उन्मुक्तता का सन्देश दिया है। बॉबी की इतनी सफलता क्या इस युग के द्वारा उसका स्वीकार नहीं ? 'परिणीता' की अश्रु-विगलित भावुकता···पुरानी चीज हुई···। समानता और स्वतंत्रता के इस युग में अब 'परिणीता' या पन्त को जीने का प्रयास 'बेवकूफी' है। 'बेवकूफी' शब्द मेरे होंठों से निकलते-निकलते रह गया।

मोहन आखों में कोई विश्वास लिये मेरी ओर देख रहा था। राधा की आखें नीची थी और उनसे आंसू झर रहे थे···इन आसुओं को मोती कहूं···या खारा पानी···? मैं सोच रही थी।

'इन्हें समझाइए, दीदी, क्यों मेरे लिए अपनी जिन्दगी खराब करते हैं ? ये लखपती बाप के बेटे हैं और यदि इनके पिता इनके लिए लखपती बाप की बेटी ही लाना चाहते हैं, तो गलत क्या है ? रिश्ता बराबर वालों का ही जुड़ सकता है ! मेरे पिता तो इनके लिए एक जोड़ी जूते तक नही खरीद सकते !···' राधा सिसकियों के बीच कह रही थी।

"मैडम, मैं सच कहता हूं, मैं राधा के सिवाय किसीसे विवाह नहीं करूंगा ! इसे समझा दीजिए···आप मुझपर बस इतना विश्वास कीजिए···!" मोहन उत्तेजित हो उठा था।

क्या मोहन यह 'सच' निभा सकेगा ? मुझे भी पूरा सन्देह था। क्या किसी लखपती बाप की बेटी की तुलना में राधा कहीं ठहर सकेगी ? यह केवल युवा रक्त की *उत्तेजना है, कुछ दिनों का यौवन का उन्माद* है ! राधा और मोहन भी क्या अपने परिवेश से कटकर जी पाते हैं ! प्रेम एक यथार्थ भी तो है, जिसे उड़ने के लिए आकाश ही नहीं, खड़े होने के लिए जमीन भी चाहिए···ठोस जमीन···एक-सी समतल जमीन। ऊंची-नीची भूमि पर खड़े राधा और मोहन अलग-अलग ही खड़े रह जाते हैं।

'देखो, दिसम्बर बीत रहा है और मार्च में तुम्हारे फाइनल हैं। तब तक पढ़ाई में मन लगाओ, फिर प्रेम करना ! वैसे मैं तुम्हारे साथ हूं !' मैंने ऊपर से तो संयत होकर कहा, किन्तु भीतर मैं भी बेहद असंयत हो उठी थी। लग रहा था, यह लैला-मजनूं का खेल प्रकृति

बार-बार क्यों दुहराती है और इसकी नियति सदा निर्मम ही क्यों होती है···?

लगभग एक मास बीता होगा, उस सांझ मन बड़ा अनमना था। बच्चों और पतिदेव को घर पर छोड़कर मैं अकेली ही निकल पड़ी थी। जी चाह रहा था, कुछ क्षणों उस एकाकीपन को जियूं, जो मेरा बिल्कुल अपना है···। मेरे होंठ गुनगुना रहे थे :

जलते दीपक से मत पूछो
है रात अभी कितनी बाकी
भीड़ घिरी रहती लेकिन
हर जलना होता एकाकी !

हां, मेरे मन ! हर जलना एकाकी ही होता है। किसी न किसी बिन्दु पर हम सब अकेले ही होते हैं···और यह एकाकीपन, यह शून्य कदाचित् हर संवेदनशील मन का एक सत्य होता है।

वर्षों बाद, एक ऐसी राधा मेरे सम्मुख आ खड़ी हुई थी, जिसने मेरे अपने भीतर को भी उस राधा की याद दिला दी थी, जो कभी उन्मा-दिनी हो उठी थी···किन्तु मैंने एक बिन्दु पर कवि पन्त को झुठला दिया था। मैं हृदय के साथ मस्तिष्क भी रखती थी। मेरी उन्मादिनी राधा बहुत जल्दी होश में आ गई थी···और आज मैं अपनी उस राधा पर वैसे ही हंस सकती थी, जैसे किसी पगली पर हंसा जाता है। मुझे उम्मीद थी, एक हृदयहीन आशा···कि पांच-सात वर्षों बाद जब यह राधा भी एक अदद पति और दो-तीन अदद बच्चों से घिरी मिलेगी तो आज के अपने इस 'उन्माद' पर कल मेरी ही तरह हंस सकेगी। लैला-मजनूं या रोमियो-ज्यूलियट तो बस कथाओं में ही अमर हो सकते हैं, ज़िन्दगी में नहीं। जीवन के यथार्थ या तो लैला-मजनूं को मार डालते हैं, या उन्हें ऐसा विद्रूपित व्यंग्य बना जाते हैं कि उन्माद उतर जाने पर ये लैला-मजनूं स्वयं पर ही हंसने लगते हैं।

मैं बैंजनी फूलों से लदे एक पेड़ के नीचे बैठ गई थी। सामने एक

तालाब था—उस नदी के पानी को बांध दिया गया था, जो कभी-कभी उग्र होकर शहर को बहा ले जाती थी। नदी को तालाब बनाकर संयत कर दिया गया था। मानव ने प्रकृति को भी कितना जीत लिया है! किन्तु 'नियति' को वह नहीं जीत सका है। विज्ञान निरन्तर जीत रहा है और आदमी फिर भी हारा जा रहा है···क्यों ? मैं स्वयं से इसीलिए तंग आई रहती हूं कि मेरे भीतर के ये 'क्यों' चुप नहीं रहते। निस्तब्धता में ये और शोर करते हैं। बैंजनी फूलों से भरे उस पेड़ के नीचे, तालाब में प्रतिबिम्बित होते उस सूर्यास्त को देखते तो इन 'क्यों' को चुप रहना चाहिए था। लेकिन नहीं, सौन्दर्य के बीच यह 'क्यों' कुरूपता से उलझने लगता है···जीवन के बीच मृत्यु के निकट आ खड़ा होता है।

'नमस्ते, दीदी!'—'प्रणाम, मैडम!' दो सम्मिलित स्वर गूंजे। मैं चौंक गई। राधा और मोहन थे···और वह एकान्त ध्वनित हो उठा था।

'आओ, आओ! बैठो मेरे पास!' मैंने राधा का हाथ पकड़कर खींच लिया। देखा, वह हाथ बहुत ठंडा था और वह मुख बहुत पीला।

'क्या बात है, राधा? तबियत ठीक नहीं है क्या?' मैं उस पीले मुख को चूम लेना चाहती थी, जिसने शायद अपना लाल रक्त जलाकर वह पीली आभा पा ली थी···पीली आभा··· या इसे सुनहरा सोना कहूं! *संसार की, समाज की तराजू पर तोला जा सकने वाला सोना* नहीं, अंधेरे में दीपक की लौ-सा जलने वाला वह सोना, जो जलकर प्रकाश दे जाता है···ज्योति के फूल बिखेर जाता है!

किन्तु इन फूलों की क्षणिकता, इनकी मृत्यु, इनकी पराजय भी निश्चित होती है। विराट अंधेरों से ये नन्हें फूल कहां लड़ पाते हैं!

'दीदी···!' हथेलियों में मुख छिपाकर राधा सिसकने लगी थी। मोहन बहुत शान्त था, बहुत गम्भीर।

'दीदी, राधा प्रेगनेण्ट है!' मोहन का स्वर इतना संयत था कि मैं हिल गई···वह इतना शान्त क्यों है··· उसकी शान्ति मुझे झकझोर रही थी।

'यह क्या किया तुमने! तुम्हें होश रखना चाहिए था!' प्रकट

में यह मेरा स्वर था—आक्रोश का।

'हां, दीदी, होश रखना चाहिए था, नहीं रहा! मैं अपराधी हूं!' मोहन राधा को एकटक देख रहा था।

'जो हो चुका, हो चुका दीदी, अब भी इन्हें समझाइए कि मुझे मेरे हाल पर छोड़ दें! अपना जीवन संभालें! इन्हें बहुत मिल जाएंगी··· और मेरा क्या···ये सुखी हों कि मैं शान्ति से मर सकूं!' राधा का वह पीला मुख आंसुओं से नहा रहा था।

सहसा मोहन ने राधा के हाथ खींचकर अपनी हथेलियों में भर लिए थे और उन्हें चूमने लगा था—बार-बार।

'हां, तुम शान्ति से ही मरोगी, लेकिन अकेली नहीं, मेरे साथ!' मैंने देखा, मोहन की आंखों में एक उन्माद था। डूबते सूरज की आभा मोहन की आंखों में प्रतिबिम्बित थी···रोशनी के एक सेतु पर राधा और मोहन आलिंगन-बद्ध आ खड़े हुए थे···किन्तु प्रबल ज्वार की लहरों को क्या यह सेतु झेल पाएगा···? रोशनी के ऐसे सेतु बहुत कोमल होते हैं, और जिन्दगी की उठा-पटक के ज्वार बहुत प्रबल।

राधा की आंखों से अविरल अश्रु झर रहे थे। मुख सूरजमुखी के सूर्यास्त के समय के मुरझाते फूल जैसा पीला हो उठा था। मोहन की आंखों का रंग गुलाबी हो उठा था···यह रंग उन्माद का था या अनुराग का? मेरी आंसुओं से धुंधली हो उठी आंखें शायद ठीक-ठीक नहीं देख पा रही थीं। प्रेम के इतने निर्मम विद्रूप देखे थे मैंने कि उसकी निर्दोषिता पर से मेरा विश्वास टूट चुका था···फिर भी लगा, जैसे उन क्षणों मोहन विश्वासों के उन खण्ड-खण्ड टुकड़ों को चुनकर फिर से एक मूर्ति गढ़ रहा हो···! हवा का एक झोंका आया था और कुछ बैंजनी फूल राधा की हथेलियों को चूमते मोहन पर बरस गए थे।

"पिताजी किसी तरह नहीं मानेंगे, दीदी, जानता हूं। राधा मेरे घर में बहू बनकर नहीं जा सकती। वह इसकी जान ले लेंगे। जानती हैं आप, मेरे पिताजी कैसे हैं? मेरी मां कभी राधा जैसी थीं···आज वह पागल हैं···। पिताजी उनसे कहते हैं, मोती की चूड़ियां अच्छी नहीं लगतीं, तो हीरे की पहनो···रेशम नहीं भाता, तो मखमल पहनो···तुम्हें किस

चीज की कमी है, मोहन की मां ? लेकिन मैं तुम्हारे आंचल से बंधा नहीं रह सकता···मुझे जो चाहे, करने दो···! ···फिर वह घुंघरुओं की झनकार और ह्विस्की में डूब जाते हैं···मां तुलसी को दिया जलाते-जलाते पागल हो चुकी हैं। और. पिताजी ने जहां मेरा रिश्ता पक्का किया है, वहां से वह तीन लाख लेंगे···पूरे तीन लाख। वह मेरा सौदा कर रहे हैं···लेकिन मुझे यह सौदा मंजूर नहीं!' चुम्बनों से सिक्त मोहन का स्वर दृढ़ था।

किन्तु चुम्बनों से भीगती राधा कातर हो उठी थी।

'इसीलिए तो कहती हूं कि मेरी तुलना में तीन लाख और जिन्दगी के ये सारे सुख बहुत अधिक हैं, इन्हें स्वीकार करो, तुम्हें मेरी सौगन्ध, मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो!' राधा के आंसू सूख गए थे। उन आंखों में एक शून्य गहरा उठा था।

'इसलिए कि दुनिया एक बार फिर कहे कि पुरुष निर्मम होता है··· कि पुरुष को प्रेम निभाना नहीं आता···वह या तो खिलाड़ी होता है, या शिकारी···नारी को फंसाकर मरने छोड़ जाता है···नहीं, मैं नहीं सह सकता कि प्यार का फिर एक बार अपमान हो···कि एक राधा फिर मर जाए!' मोहन की तड़प उसके स्वर में उतर आई थी। मैं अवाक् थी···अभिभूत भी।

'अच्छा, दीदी, चलते हैं···जीते रहे, तो फिर मिलेंगे···!' मोहन राधा का हाथ थामे चलने लगा था।

'सुनो, बी प्रैक्टिकल। एबोर्शन क्यों नहीं करवा देते?' मैंने बिल्कुल पत्थर-से यथार्थवादी स्वर में कहा। वे बैंजनी फूल, वह सुनहरा सूर्यास्त, मोहन की आंखों का वह गुलाबी उन्माद, राधा का सूरजमुखी-सा पीला मुख···। सब एक ओर···और सारी उलझनों को एक ही झटके में काट देने वाला 'बी प्रैक्टिकल' दूसरी ओर···लाओ, यह झटका मैं ही मार दूं···उन क्षणों मैं किसी छुरी-सी ही निर्मम हो उठी थी।

'तो भी राधा तो मरेगी ही! बात का छुपना असम्भव है। मेरे घर में उसे मेरे पिताजी नहीं जीने देंगे, किसी और घर में समाज! और मैं जानता हूं, राधा···राधा है! लेकिन यह राधा अकेली नहीं मरेगी···!'

मोहन ने मुड़कर सहसा मेरे पैर छू लिए···राधा को खींचता-सा चला गया।

यह एक खेल है···एक उन्माद, या एक सत्य ? राधा और मोहन के नाम का वह संयोग एक सीमा तक सत्य हो उठा था। मेरे वक्ष में प्रबल आलोड़न उठ आया। होंठ चुप थे। उस सारे आलोड़न को दबाते मैंने होंठ मौन में कस लिए थे।

तीन दिनों से राधा और मोहन क्लास में अनुपस्थित थे। क्यों··· क्यों···क्यों···? मेरे आलोड़न व्यग्र हो उठे थे। मेरा रोम-रोम प्रार्थना कर रहा था कि यदि 'प्रभु' जैसी कोई शक्ति है, तो वह शक्ति उनकी रक्षा करे।

तीसरे दिन मैं फिर पन्त को ही पढ़ा रही थी कि सहसा एक पुलिस इन्सपेक्टर आया, 'मैडम, सुसाइड की एक वारदात हो गई है। आपको शिनाख्त के लिए चलना होगा।'

मेरी हृदय-गति रुक-सी गई···कहीं राधा और मोहन ही तो नहीं···?

पुलिस वैन की सीट पर बैठी मैं जैसे होश में नहीं रह गई थी···।

वैन रुकी। इन्सपेक्टर उतरा। मैं भी उतरी। वही तालाब था··· और उसके किनारे पर पड़े हुए आलिंगन-बद्ध दो शव···उन्होंने रस्सियों से अपने को ऐसे जकड़ लिया था कि लहरें उन्हें अलग न कर सकें···वे शव फूल कर विकृत हो गए थे···और वे राधा और मोहन ही थे। मेरे स्तब्ध मन ने कहा, लहरों में समाने के पूर्व उनके होंठ एक अन्तिम चुम्बन में अवश्य जुड़े होंगे···क्या विधाता उस अन्तिम चुम्बन से अधिक किसी और 'सुन्दर' की सृष्टि कभी कर सकेगा···?

'पहचानती हैं न आप इन्हें ? आपके स्टूडेण्ट्स थे न ? तो इसपर साइन कर दीजिए।' इन्सपेक्टर ने मेरे हस्ताक्षर ले लिए···मैंने लिख दिया, वे राधा और मोहन ही थे। हां, वे राधा और मोहन ही थे। मेरे निकट अब उनके नाम महज संयोग नहीं रह गए थे···मृत्यु का वरण कर वे अमर हो उठे थे !

इन्स्पेक्टर ने कैप उतारी—शवों के अभिवादन के लिए, फिर कैप लगाकर एक तिक्त हंसी हंसा, 'मैं नहीं जानता था कि आज के जमाने में भी लैला-मजनू हो सकते हैं!' इन्स्पेक्टर ने व्यंग्य करना चाहा था, किन्तु व्यंग्य में टेढ़े होते उसके अपने ही होंठ उसकी ही आंखों को अनकहा दर्द दे गए थे। उसने हंसना चाहा था, हंसा भी था···किन्तु केवल होंठ हंसे थे, आंखें नम हो गई थीं···।

'चलो, उठाओ लाशों को, अभी पोस्टमार्टम करवाना है और इनके बापों से शिनाख्त भी करवानी है···सालों ने मार ही डाला···!' पुलिस वैन और लाशों को लिए एम्बुलेन्स चल पड़ी थी।

···और उन्मादिनी-सी खड़ी मैं सोच रही थी···पृथ्वीराज अपनी संयोगिता को भरी सभा के बीच से उठाकर, किरनों के अश्व पर बैठाकर ले जा चुका था···दूर···बहुत दूर···सारी दुनिया की पहुंच से परे··· क्षितिज के उस पार!

एक ओर सूर्यास्त हो रहा था···तालाब का पानी ऐसा शान्त था, जैसे कुछ हुआ ही न हो···और जुट आई भीड़ में ऐसे मेगोइयां हो रही थीं, जैसे वे कोई फिल्म देख रहे हों!

कैद

'मां, भूख लगी है।' अनूप चीखता है।

'लाती हूं बेटे, खाना लाती हूं, अभी, अभी···'

मां का कोमल मधुर स्वर गूंजता है। अनूप इस स्वर को सुनना चाहता है बार-बार, निरन्तर। अनूप की चीखों के प्रत्युत्तर में मां का कोमल मधुर स्वर ऐसे ही गूंजता है और अनूप को लगता है मां अंगुलियों से ही नहीं, अपने स्वर से भी उसे सहलाती रहती है।

मां थाली लिए आती है। चमचमाती थाली में दो फुलके, कटोरियों में दाल, आलू की सब्जी, खीर और अनूप का मनपसन्द, खीरे का रायता। मां थाली अनूप के सामने रख देती है। अनूप अंगुली दाल में डुबाकर मुंह में रखता है, 'तीती है।' फिर अंगुली रायते में डुबाता है, 'कडुआ है।'

'न कुछ तीता है, न कडुआ है। बोल अब क्या है तेरे मन में?' मां हंसकर पूछती है।

'तेरे हाथ से खाऊंगा।' अनूप ठुमककर कहता है।

'बस, इत्ती-सी बात, ले मैं खिलाती हूं अपने राजा बेटे को।' मां अनूप से सटकर बैठ जाती है। पहला कौर खीर खिलाती है, फिर दाल में फुलका भिगोकर खिलाती हुई हंसती है—'क्यों रे अब तो तीता-कडुवा नहीं है न!'

अनूप और मां की हंसती दृष्टियां मिलती हैं। एक मूक समझौता है इन दृष्टियों में। अनूप ने कई बार देखा है, पाया है कि वे दोनों, मां उसकी और वह मां की, दृष्टि का अर्थ अनायास समझ लेते हैं···तभी न तीता, कडुवा की शिकायत करने पर मां खाना खिलाने लगती है।

अनूप फिर ठुमकता है—'मां, कहानी···'

'अब कहानी भी ? अच्छा सुन···'

मां छोटे-छोटे कौर खिलाती कहानी कहने लगती है—'एक राजकुमार था, बड़ा सुन्दर ! बड़ी-बड़ी आंखें, लाल-लाल होंठ, घुंघराले बाल, दूध-सा रंग···ठीक मेरे अनूप जैसा !'

'और उसके हाथ-पैर ?' अनूप दूधिया हंसी हंसता है। अनूप जानता है, उसके छोटे-छोटे सुन्दर दांतों की मां बलाएं लेती हैं—'कैसा राजकुमार-सा है मेरा लाल !' मा कहा करती है।

मां कहानी की रौ में है—'हां-हां, उसके हाथ-पैर भी बड़े सुन्दर हैं। लम्बे-लम्बे हाथ जैसे भगवान रामचन्द्रजी के थे। और पैर···' मां सहसा चुप हो जाती है।

अनूप मा को देख रहा है। मां रुक जाती है, कहानी रुक जाती है। अनूप जानता है मा अब शायद कहानी न कह सके। अनूप को याद है मां ने बहुत दिनों पहले यही कहानी एक बार शुरू की थी लेकिन कहानी राजकुमार के पैरों पर आकर अटक गई थी। फिर मा शायद भूल गई हो, अनूप नहीं भूला कि मा वह कहानी नहीं कह सकी थी। आज न जाने कैसे मां फिर वही कहानी कहने लगी···

अनूप खाना खत्म कर चुका है। कहानी बाकी है, लेकिन मां को जाने कौन-सा काम याद आ गया है—'अरे कहीं मैं सब्जी चूल्हे पर ही तो नहीं छोड़ आई।' मां तत्परता से थाली उठाकर चली जाती है। अनूप ने देख लिया है थाली उठाती मा की दृष्टि कातर हो उठी है। मां की उसे देखती यह दृष्टि भी अनूप के मन पर इतनी अंकित है कि उस दृष्टि को वह सपने में भी नहीं भूल पाता। अनूप जब भी मा को सपने में देखता है, उसे देखती मा की यही कातर दृष्टि मां के मुख पर होती है···मां राजकुमार वाली यह कहानी कभी नहीं कह सकेगी, अनूप जान गया है। उस सुन्दर राजकुमार के पैर हों, तब न ! 'कैसा राजकुमार-सा है मेरा लाल !' अनूप का मुख चूमते मां जाने कितनी बार कह चुकी है। अभी भी तो कह रही थी—'बड़ी-बड़ी आंखें, लाल-लाल होंठ, घुंघराले बाल, दूध-सा रंग···ठीक मेरे अनूप जैसा !' लेकिन सुन्दर

राजकुमार की सुन्दर कहानी उसके पैरों तक जाकर अटक जाती है।

अनूप अपने पैरों पर ढंकी रेशमी चादर हटा देता है। उसके सुन्दर हाथ उसके बदसूरत पैरों को सहलाने लगते हैं। मां बताती है जब वह बहुत छोटा था उसे 'पोलियो' हो गया था और उसकी दोनों टांगें रहते हुए भी नहीं रही थीं।

अनूप को तो याद भी नहीं कि कभी उसके पैर थे भी ? पता नहीं पैरों पर खड़े होने का, अपने ही पैरों से चलने का अनुभव कैसा होता है···?

अनूप रात-दिन सोचता है एक जोड़ी आंखें, एक जोड़ी हाथ, एक जोड़ी पैर···अनूप की आंखें बड़ी-बड़ी हैं, हाथ लम्बे-लम्बे सुन्दर हैं, जैसे भगवान रामचन्द्र जी के थे···अनूप की आंखों में दर्पण में देखा उसका अपना चेहरा घूमता रहता है और फिर वह कमर के नीचे ढंकी रेशमी चादर को उघाड़ देता है···लेकिन उसके एक जोड़ी पैर···बेजान, निरर्थक, लकड़ी के दो टुकड़ों-सी टांगें, जो होकर भी नहीं हैं और अनूप सोचता है उस सुन्दर राजकुमार के पैर हों, तब न कहानी आगे चले। एक अव्यक्त चीत्कार अनूप के कण्ठ में घुटने लगता है···अनूप अपने पैरों को देखता रह जाता है।

सोते-जागते अनूप की आंखों में पैर ही पैर घूमते रहते हैं—चलते-फिरते पैर, उठती-बैठती टांगें···टांगों पर दौड़ता जीवन, पैरों पर खड़ा जीवन ! अनूप से छोटा भाई अरुण इन्हीं टांगों पर दौड़ता रोज़ स्कूल जाता है। अनूप अपनी ह्वील-चेयर पर बैठा-बैठा देखता रहता है—अरुण नहाकर दौड़ता आया है, नेकर और कमीज पहनकर दौड़ता रसोई में खाने गया है, और फिर बैग लेकर 'भैया···टा···टा' कहता बाहर दौड़ गया है। अनूप ह्वील-चेयर लुढ़काता दरवाज़े तक जाता है। दरवाज़े से बाहर गली का दृश्य साफ दिखाई पड़ता है। अरुण की दौड़ती टांगों के साथ कई जोड़ी और टांगें हैं···वे सब दौड़ते चले जाते हैं, वे सब स्कूल जाते हैं···और अनूप···? अनूप सोचता रह जाता है कि काश ! वह भी अरुण की तरह दौड़ सकता···अनूप का सर घूमने लगता है···उसकी आंखों में अंधेरा घिरने लगता है···उसे लगता है दिखाई पड़ने वाला

कोई बन्धन न होने पर भी वह एक कैद में है...।

बड़े भैया ने एक बार बताया था कि एक कैद ऐसी भी होती है जिसे उमर-कैद कहते हैं। उमर-कैद उसे दी जाती है जो कोई भयानक अपराध करता है। लेकिन अनूप ने क्या अपराध किया है कि जाने किसने उसे इतना भयानक दंड दे दिया है।...अनूप सिसक-सिसककर रोने लगता है, रोता रहता है...लेकिन मां के आते ही आखें मूंदकर सोने का अभिनय करने लगता है। अनूप जानता है कि बात-बात पर अरुण को डांटने वाली मां उसे कभी नहीं डांटती...मां की डांट, अरुण की तरह, खाने का अनूप का कितना मन करता है...! अनूप कितना चाहता है कि वह भी अरुण की तरह रोज नहाकर दौड़ता आए, नेकर और कमीज पहनकर दौड़ता रसोई में आए और फिर बैग लेकर 'मां टा...टा' कहता बाहर दौड़ जाए...और मां उसे भी बात-बात पर डांटे...लेकिन मां तो उसे बस प्यार ही करती रहती है...।

जब पिताजी थे तो वे भी सबसे अधिक उसका ही लाड़ करते थे— 'सबसे अधिक चिन्ता तो मुझे अपने इसी बेटे की है, मणी की मां।' वे मां से कहते थे। तब अनूप इतना ही समझ पाता था कि पिताजी उसे सबसे अधिक प्यार करते हैं। किन्तु अब वह समझ गया है कि पिता क्यों उसकी ही सबसे अधिक चिन्ता करते थे। अरुण के पैर हैं, मणीन्द्र भैया के भी पैर हैं, बस वही बिना पैरों का है न, इसीलिए उसे सब प्यार ही करते हैं। लेकिन इस केवल प्यार में कितनी घुटन है, कितनी चुभन...इसे अनूप महसूस करता है, कह नहीं पाता। और अनूप के चीख-पुकार मचाने पर मां सच में समझती है कि अनूप को भूख लगी है...और जब-तब उसके आंख मूद लेने पर समझती है कि अनूप सो गया है।

चार वर्ष पहले ही तो मणीन्द्र भैया का विवाह हुआ था। सात वर्ष का था अनूप तब। विवाह की धूमधाम उसे बहुत अच्छी लगी थी। व्हील-चेयर पर बैठाया बिछौने पर लेटा वह इतना खुश था कि उसे खुश देखकर मां अपनी आखें पोंछने लगी थी—'बड़ा खुश है न रे अनूप। भगवान तुझे सुखी करें।' मां आखें पोंछने लगी थी। शायद च

खुशी में ही रोने लगी है, अनूप ने सोचा था और व्याह की धूमधाम में खो गया था।

मां ने यह क्यों कहा, 'भगवान तुझे सुखी करें'···अनूप समझ नहीं पाया था। क्या खुश होना और सुखी होना दो अलग बातें हैं? होगा···ये बड़ों की बातें हैं··· सात वर्ष के अनूप ने मुंह बिचला दिया और उन जगमग करते रंगीन लट्टुओं को देखने लगा जो चारों ओर सजाए गए थे। मैं अपने व्याह में इससे भी ज्यादा लट्टू लगाऊंगा···इससे भी ज़्यादा रोशनी, धूमधाम, बाजे···। अनूप तालियां बजा-बजाकर सोच रहा था···

भैया मोटर से उतर रहे थे। पीछे-पीछे लाल-लाल जगमग साड़ी में भाभी थी। भाभी के पीछे एक गोरी गुलाबी लड़की और थी। अरे ये लडकी तो मेरे बराबर होगी, इससे दोस्ती की जाए—कित्ती सुन्दर है! अनूप ने सोचा। उस गोरी गुलाबी लड़की मधु से अनूप की तुरन्त दोस्ती हो गई! वे दोनों गेंद खेलने लगे थे। अनूप गेंद फेंकता, वह दौड़कर उठा लाती, फिर वह गेंद फेंकती तो अनूप बैठे-बैठे कैच कर लेता। सहसा मधु ने कहा—'तुम बैठे-बैठे क्यों खेल रहे हो उठकर दौड़ो न, तब मज़ा आएगा।' अपनू ने कहा—'मैं दौड़ नहीं सकता।' मधु उसके पास आ खड़ी हुई—'क्यों?' अनूप ने चादर उठाकर अपनी टांगें दिखा दीं। चीखती मधु भाग खड़ी हुई। मधु की उस चीख ने जैसे अनूप को कहीं ऊंचे से पटक दिया। उस क्षण सहसा अनूप को पहली बार लगा कि टांगों का न होना कुछ अनहोना था। वह कांपने लगा—कांपते-कांपते सिसकने लगा—मां आई—'क्या हो गया रे, हंसते-हंसते रोने क्यों लगा?' मां हंस रही थी। मां भी कहीं सच में रोने न लगे, वह इतना ही सोच पाया। 'कुछ नहीं' कहता वह अपने-आपसे गेंद खेलने लगा।

लाल-लाल साड़ी में गोरी-गोरी भाभी अनूप को बड़ी अच्छी लगी। उसका भी व्याह हो जाए तो उसकी भी ऐसी ही बहू आ जाए, फिर दोनों आराम से दिन-भर गेंद खेलते रहें—उसने सोचा। क्यों न मधु से ही पूछा जाए—व्याह करेगी?

दूसरे दिन सवेरे उसने मधु को बुलाया तो वह फिर दौड़ती आ गई।

'गेंद खेलोगी ?' उसने पूछा। मधु शायद अपनी चीख भूल चुकी थी। अनूप ने देखा, गुलाबी घेरदार फ्राक में मधु ऐसी लग रही थी जैसे जापानी गुड़िया हो। मधु अनूप से गेंद लेने बढ़ी तो अनूप ने उसका हाथ पकड़ लिया—'हमसे ब्याह करोगी ?' मधु की आंखें फैल गईं—अच्छा तो है यह दूल्हा ! जीजी के दूल्हा से तो ज्यादा सुन्दर है। 'ठहरो जीजी से पूछ आऊं।' फिर मधु शाम तक नहीं लौटी। शाम को भीड़ में दिखाई दी तो अनूप चिल्लाया—'मधु ऽऽ,' मधु ने वहां से जवाब दिया—'जीजी कहती है बिना टांगोंवाले दूल्हे से शादी करेगी तो तेरी भी टांगें तोड़ दूंगी'—पास खड़ी मधु की जीजी दुलहन भाभी ने मधु का मुंह हथेली से दबा दिया था। सब हंसने लगे थे। अनूप उदास हो गया था। मधु के वापस चले जाने पर उसने मां से कहा था—'मां, मुझे एक जापानी गुड़िया मंगा दो।' मां हंसी थी—'तू लड़की है रे जो गुड़िया खेलेगा ?' लेकिन गुड़िया मंगा दी थी। गुड़िया अब भी अनूप के सिरहाने आलमारी में रखी है। अनूप जब अकेले में उससे बात करता है तो उसे 'मधु' कहता है। मधु फिर नहीं आई—और अब ग्यारह वर्ष का अनूप जान भी गया है कि दो टांगों वाली मधु उससे कभी ब्याह नहीं करेगी।

मणी भैया रोज़ जाते समय उसके पास आते हैं—'अनूप, हम ऑफिस हो आएं।' वे उसके गाल थपथपाकर कहते हैं। अनूप उनकी हथेली पकड़कर छोड़ देता है—'हां भैया, टा-टा' —भैया मुस्कराते चले जाते हैं—अनूप बैठा रह जाता है—ठीक मां के पूजाघर में रखी भगवान की मूर्ति की तरह। लेकिन मूर्ति तो पत्थर की होती है, क्या वह भी पत्थर का है ? सोचते अनूप का मन जाने कैसा होने लगता है—उमड़ते आंसुओं को रोकता वह ज़ोर-ज़ोर से ह्वील-चेयर लुढ़काने लगता है।

अनूप के भैया-भाभी कितने अच्छे हैं ! कितना ख़याल रखते हैं उसका ! मणी भैया और भाभी जब भी बाहर जाते हैं तो उसके लिए ज़रूर कुछ न कुछ लाते है। अरुण ज़िद करता है कि उसके लिए भी कुछ क्यों न आया, तो मणी भैया डांटते हैं—'तुझे रोज-रोज क्या चाहिए ?' अरुण गुस्सा करता है, बड़बड़ाता है, लेकिन अनूप के हाथ से वह चीज़ छीनता नहीं। यदि अरुण उसकी चीज़ छीनकर भाग जाए तो अनूप उसे पकड़ तो

नहीं सकता। लेकिन अरुण ऐसा कुछ नहीं करता। एक रात अनूप ने सपना देखा था कि अरुण ने अनूप की चीज़ छीन ली है और भाग गया है और अनूप भी उसके पीछे दौड़ रहा है···दौड़ रहा है···आंख खुलने पर अनूप बहुत देर तक थरथराता रहा था···क्या वह कभी अरुण के पीछे दौड़ सकेगा···? अकेले में अपनी टांगों को देखते वह उस सपने को सोचता रह जाता है···

भाभी कहती है—'अनूप भैया, लाओ तुम्हारे सिर में तेल लगा दूं।' भाभी के कोमल हाथों का स्पर्श अनूप को मधु की याद दिला देता है। भाभी सजकर आती है तो भाभी को देखने के बाद अनूप उस ज़ापानी गुड़िया को देर तक देखता रहता है।

कुछ दिन पहले एक भिखारी बच्चा अनूप के घर भीख मांगता आ गया था। व्हील-चेयर पर बैठे अनूप ने देखा था कि उस लड़के की भी टांगें नहीं थीं···टांगें थीं तो—लेकिन वैसी ही बेजान, निरर्थक, लकड़ी के दो टुकड़ों-सी, जो होकर भी नहीं होती हैं···और उस लड़के की वे टांगें रेशमी चादर से ढंकी भी नहीं थीं···दोनों हथेलियों पर ज़ोर देकर घिसटता वह लड़का फिर नहीं आया। मां ने उसे कुछ दूर ले जाकर उससे कुछ कहा था, शायद यहां आने को मना किया हो। अनूप ने इतना तो सुना था 'तू पीछे के दरवाज़े से आकर भीख ले जाया करना, समझा···' यह मां भी समझती है कि वह अनूप की रक्षा कर ेगी ? लेकिन मां यह कहां जानती है कि जैसे-जैसे अनूप बड़ा हो रहा , होश में आ रहा है, अनूप को भीतर की जाने कितनी चोटें लगने ी हैं···कौन कर सकेगा अनूप की रक्षा इन चोटों से ?

आजकल अनूप को आकाश की ओर देखना बहुत अच्छा लगता है। व्हील-चेयर लुढ़काता बरामदे में आ जाता है और दीवार से सिर ाकर आसमान को निहारता रहता है। अन्तहीन नीला आकाश उन्मुक्त पवन के झोंके···कभी धूप, कभी चांदनी···कभी तारों जड़ी ···। बड़ा अच्छा लगता है अनूप को यह सब ! लेकिन सबसे अच्छे हैं अनूप को नीले आकाश के विस्तार में पंख फैलाए उड़ते पक्षी। कैसा लगता होगा इन पक्षियों को आकाश में उड़ते ? शायद वैसा

ही जैसा अनूप को सपने में भरण के पीछे दौड़ने से लगा था। पंख फैलाये उड़ते पक्षियों को देखता अनूप थरथराता रहता है।

'मां, मुझे तोता मंगा दो।'

'क्या करेगा अब फिर तोते का ?' मां अनूप का माथा सहलाकर पूछती है।

'उसे यात करना सिखलाऊंगा, फिर उससे बात किया करूंगा, अकेला नहीं लगेगा।' अनूप मां की गोद में मुख छिपाकर कहता है।

'अच्छा, अच्छा', मां का स्वर कातर-सा लगता है। मां की दृष्टि, मां का स्वर,…अनूप को क्या मां सदा ही ऐसा कातर प्यार देती रहेगी, कभी झिड़केगी नहीं ? कैसी हसरत है अनूप के मन में मां की डांट खाने की या भरण के द्वारा कोई चीज छीन लिए जाने की…?

मां पड़ोस के माधो काका से कहकर तोता मंगवा देती है। पहले भी दो बार मंगा चुकी है। लेकिन इस अनूप को जाने क्या पागलपन चढ़ता है कि दिन-भर उस तोते से खेलने के बाद शाम को उसे पिंजरा खोलकर उड़ा देता है। दो बार तोते उड़ा चुका है अनूप ऐसे।

मां ने तीसरी बार फिर तोता मंगा दिया है। दिन-भर अनूप तोते से उलझा रहा है—'बोलो मिट्ठू मियां रघुपति राघव राजाराम…राम राम…सलाम…टा…टा।' शाम हो गई है। तोता पिंजरे में फड़-फड़ा रहा है। अनूप बरामदे में व्हील-चेयर पर बैठा है। पास स्टूल पर पिंजरा है, पिंजरे में तोता है। अनूप आकाश की ओर देखता है। आकाश के नीले विस्तार में पक्षियों के झुंड के झुंड उड़े जा रहे हैं—उन्मुक्त ! अनूप आकाश को देखता है, पिंजरे को देखता है, और धीरे से पिंजरा खोल देता है। तोता पंख फड़फड़ाता है, फुदकता है और पिंजरे से उड़ जाता है। मां अनूप के लिए दूध लिए आती है। खाली पिंजरा देखती है—'तो फिर उड़ा दिया न तोता। क्या हो गया है रे अनूप तुझे ? जब उड़ा ही देना है तो तोता बार-बार मंगाता ही क्यों है। ले अब दूध तो पी।' मां का स्वर काफी तिक्त है। दूध पीता अनूप कहना चाहता है, कि यदि उसका बस चले तो वह पिंजरे में बन्द हर पक्षी को आजाद कर दे। लेकिन कहता कुछ नहीं…कह पाता नहीं…

डूबने से पहले

यूरोप की तीन महीने की शानदार यात्रा के बाद मिस शैला कपूर अब शहर के उस एकान्त स्थान पर बार-बार आने लगी है और उस छोटी-सी नीली झील के किनारे चुपचाप बैठ जाती है'''आफिस में टाइपराइटर पर अंगुलियां दौड़ाते भी, अब उसकी आंखों में नीली झील का नीरव एकान्त बार-बार उभरता है। और वह प्रायः आत्म-विस्मृत-सी हो उठती है। इधर उससे उसी नीली झील के कारण, टाइपिंग में इतनी अशुद्धियां होने लगी हैं कि प्रायः बास कठोर स्वर में डांट देते हैं, 'ह्वाइट्स रांग विद यू मिस कपूर ? इतने एक्सपिरियेन्स के बाद कमिटिंग सिली ब्लण्डर्स !'

वह अपराधिनी-सी बास की कैबिन से लौटती है और अंगुलियों से दर्द करते सिर को सहलाकर, एक कप चाय से सिर-दर्द की गोली गटक जाती है। यथाशक्ति दिमाग और अंगुलियों को सन्तुलित कर पेपर फिर टाइप करती है—इस बार कायदे से, बिना एक भी गलती के। फिर बाथरूम में जाकर मेकअप ठीक करती है'''साड़ी की चुन्नटें और आंचल सम्भा-लती है, पाउडर का पफ फेरती है, लिपस्टिक से होंठों को और गुलाबी करती है और मसकारा की धार से पलकों की कोरों के बंकिम कटाक्ष पैने करती, दुबारा बास के केबिन में पहुंचती है, तो बिल्कुल सधी हुई, सन्तुलित स्टेनो मिस शैला कपूर होती है—विदेशी फर्म की खूबसूरत, स्मार्ट मिस शैला कपूर, जिसके लिए इतनी प्रसिद्ध फर्म में नौकरी पाना किसी सौन्दर्य-प्रतियोगिता में विजयी होने के समान ही था ! हां, उसने अपने खूबसूरत चेहरे के सम्मोहन एवं अनुपात में ढले नारी-अंगों के मोहक कोणों के बल पर यह नौकरी प्राप्त कर ली थी'''और पहले दिन ड्यूटी ज्वाइन करते

ही सोचा था कि अब वह सब कुछ पा सकती है, हासिल कर सकती है, जो वह चाहती थी। अब वह नितान्त निर्द्वन्द्व जिन्दगी जी सकती है, अपने बल पर, सिर्फ अपने लिए!

सिर्फ अपने लिए···हां···कोरों के वंकिम कटाक्ष पैने करती, अपने लिए! देह से परे की न वह सोचना चाहती है, न देह की सीमाओं में बंधना। 'आई कीप नो इनहिबिशन्स' इसे न वह केवल स्वीकार चुकी है, बल्कि व्यवहार में भी जीना सीख चुकी है···और उसे विश्वास है कि विज्ञान के इस युग में वैज्ञानिक तरीकों से जीना चाहिए···इस 'राकेट एज' में राकेट के समान उड़ान भरनी चाहिए, न कि रूढ़िवादी परम्परागत दलदल में फंसकर, जीवन-यौवन व्यर्थ कर देना चाहिए। हूं, वह चोली कसती मुंह बिचका देती है···।

अब, अपने एक कमरे के फ्लैट में, जब वह बालकनी में बैठी चाय सिप करती होती है, तब नीले आकाश का अनन्त विस्तार, पता नहीं कैसे एक झील-सा प्रतीत होने लगता है—नीली झील-सा। इस विस्तार को पंखों से तौलने के स्थान पर वह, पता नहीं क्यों इसमें डूब जाना चाहती है। प्रायः उसकी आंखों को झांकती पुरुष-आंखें अभ्यर्थना में कहती हैं—'आपकी आंखें बहुत खूबसूरत हैं मिस कपूर! बिल्कुल नीली झील जैसी···कि इनमें डूब जाने को जी चाहता है···!'

हां, सचमुच उसकी आंखें नीली हैं। केशराशि सुनहरी और वर्ण एकदम उज्ज्वल! साथी क्लर्क प्रायः ठण्डी आह भरकर कुछ न कुछ कहते रहते हैं—उसकी सराहना में— 'हाय! चांदनी लग जाएगी, मैला बदन हो जाएगा···!'

अशोक पाण्डे साहित्यिक रुचि रखता है। उसकी मेज शैला के बिलकुल करीब है···शैला प्रायः उसे भी अस्फुट स्वरों में गुनगुनाते सुनती है, 'तुम्हारे नील झील-से नैन, नीर निर्झर से लहरे केश!'

गंजी खोपड़ी वाले बास मिस्टर मेहरोत्रा सम्माननीय अधिकारी हैं। इतनी प्रमुख विदेशी कम्पनी के मैनेजिंग डायरेक्टर, अपने कार्य में इतने दक्ष कि एक ओर वह कम्पनी का विस्तार करते गए, दूसरी ओर अपनी 'स्टेटस' का भी। सबसे समझदारी का काम उन्होंने यह किया कि स्वयं

कम्पनी के बंगले में रहने लगे और सात मंजिली इमारत खड़ी कर ली —'यू नो फार माई ओल्ड एज, आई मस्ट हैव सम सपोर्ट।' मिस्टर मेहरोत्रा प्राय: डिक्टेशन देते समय शैला की चौबीस इंच की कमर को बांह से कस लेते हैं। खींचकर उसकी पतली नाजुक अंगुलियों को चूम लेते हैं, 'यू पोजेस वण्डरफुल आइज!' कहते हुए छोटी-छोटी लोलुप आंखों से देखते हैं। फिर डिक्टेशन देने लगते हैं···केबिन में इससे अधिक सम्भव नहीं हो पाता। वैसे, शैला, उन्हें सब कुछ समर्पित कर चुकी है —रात्रि के अन्धकार में, किन्तु रात्रि की बात को मेहरोत्रा और शैला रात के साथ भूल जाते हैं, भुला देते हैं। दूसरे दिन जब आफिस में होते हैं तो मिस्टर मेहरोत्रा कम्पनी के बास और शैला कपूर सिर्फ कम्पनी की स्टेनो टाइपिस्ट।

एक बार मिसेज मेहरोत्रा ने, शैला को घर पर चाय के लिए बुलाकर हंगामा खड़ा कर दिया था, 'याद रखो, मिस कपूर, मैं ऐसी-वैसी औरत नहीं। तुम्हें रास्ते से हटा सकती हूं। अच्छा हो कि तुम अपनी सीमाओं में रहो, वरना तुम्हें मिटा दूंगी।' मिसेज मेहरोत्रा शेरनी-सी बिफर उठी थीं और मिस्टर मेहरोत्रा ने कसम खाई थी, 'आई स्वेअर बाई गाड! शैला मेरी बेटी के समान है, मेरे लिए। बिलीव मी माई डियर!' और वह मिसेज मेहरोत्रा के कदमों में झुक गए थे।

'आई स्वेअर बाई गाड···' मेहरोत्रा ने ईश्वर के नाम पर कसम खाई थी और फिर शैम्पेन में डूबकर दूसरे ही दिन इसे झुठला भी दिया था, 'टेक इट इजी माई डियर!' शैला के स्निग्ध कपोलों को सहलाते हुए उन्होंने माफी मांगी थी, 'आई एम सारी फार ह्वाट माई मिसेज हैज सेड।'

शैला को लगा कि मिसेज मेहरोत्रा ने नहीं, मिस्टर मेहरोत्रा ने ही उसे जख्मी किया है। उसकी नीली झील-सी आंखों में, लाख रोकने पर भी आंसू छलक आए थे। जाने क्यों, तब वह फूट-फूटकर रोई थी और फिर चुपचाप नींद की गोलियां निगलकर बेहोशी में डूब गई थी, किन्तु उस सारी रात उसे भयावह दुःस्वप्न आते रहे थे···

सबेरे होश आने पर देखा—पास ही एक हजार का चेक पड़ा हुआ

है—मिस्टर मेहरोत्रा का। चेक को उलट-पुलटकर देखती हुई शैला बिल्कुल होश में आ गई, 'टेक इट ईज़ी माई डियर'''!' उसे याद आया और सचमुच ही वह सहज हो गई। अपनी उठती सिसकी को उसने रिकार्ड-प्लेयर पर एक तेज़ विदेशी धुन का रेकार्ड लगाकर, उसके शोर में डुबा दिया। हां, उस दिन एक बार बहुत गौर से उसने अपनी नीली झील-सी आंखों में दर्पण के सामने, स्वयं भी झांककर देखा था बस! *उस दिन कुछ क्षणों के लिए वह अपनी ही आंखों का सामना नहीं कर सकी थी।* फिर सारे दिन आफिस में वह खुली, बेबाक आंखों से, सारे स्टाफ का सामना करती रही थी। उसके बाद उसने अपनी नीली झील-सी आंखों में स्वयं झांकना बन्द कर दिया था, *'ये झीलें तो औरों के डूबने के लिए हैं'''उन सबके डूब मरने'के लिए।'*

शैला की दर्पित चितवन, दर्पण में उससे कहती, 'मैं स्वयं क्यों डूबू इनमें?'

शैला को जाब मिले, सर्विस करते, सिर्फ अपने लिए जीते, तीन वर्ष हो चुके हैं'''तीन वर्ष! ओह, माई गुडनेस! शैला इन तीनों वर्षों की सोचने एक दीर्घ निःश्वास लेती है। इन तीन वर्षों को पंख लगाकर उड़ जाना चाहिए था—'राकेट एज' में राकेट के समान! शैला ने 'राकेट एज' के सारे सिद्धान्त सीख लिए थे, अपना लिए थे, किसी हद तक, 'जी भी लिए थे'''। किन्तु अपनी नीली झील-सी आंखों को और मोहक बनाने के लिए मसकारा की धार से बंकिम कटाक्ष और पैने कर देने के लिए कि कोई चितवन का तीर व्यर्थ न जाए। यदि तीर चले तो शिकार कदमों में ही आ गिरे'''तो'''तो अब कभी-कभी उसे ही लगता है कि उसके तीर उसे ही आहत करने लगे हैं। उसकी नीली झील सी आंखों की नीली आभा में स्याह अंधेरे घिरने लगे हैं। वह सोचती—'उह, आई एम जस्ट ट्वण्टी फोर'''अभी तो पूरी जिन्दगी सामने है। चलो, पहले जी भरकर गुनाह कर लें, फिर फुरसत में प्रायश्चित कर लेंगे।'

शैला विदेशी धुनों पर नृत्य करने का अभ्यास भी करने लगी है हां, यदि वह कैबरे-डान्सर हो सके तो फिर उसे अपनी चौगुनी कीमत

मिलेगी, शोहरत भी। नशे में थिरकती-झूमती ज़िन्दगी भी···नशा··· नशा···नशा! रूप का···यौवन का···! मुक्तभोग का—देह के स्थूल स्तर पर हर आनन्द की प्राप्ति का! काफी की चुस्कियों से लेकर शैम्पेन के घूंटों का···और चाहिए भी क्या? और यह सब शैला हासिल कर सकती है···किसी हद तक कर भी चुकी है!

शैला को लगता है, जैसे वह सितारों के बीच आ खड़ी हुई है··· सितारों की बुलन्दी, सितारों की जगमगाहट···सितारों का माया-लोक! किन्तु ये सितारे अंधेरों से घिरे क्यों होते हैं? दिन के उजाले में इनका पता क्यों नहीं लगता? अच्छा है कि सितारे अंधेरे में ही चमकते हैं। दिन का उजाला तो तपाने वाला होता है—झुलसाने वाला। सब कुछ साफ-साफ दिखाने वाला। शैला तो अपनी स्निग्ध त्वचा को भी सूर्य की प्रखर किरणों से बचाए रखना चाहती है कि कहीं स्याह न पड़ जाए। दिन के प्रकाश से हटती है शैला, रात के अंधेरों में निर्द्वन्द्व हो उठती है, उसे रोशनी नहीं, अंधेरे साए अच्छे लगते हैं।

शैला, स्नान-गृह में 'शावर' के नीचे बैठी अपने अनावृत अंगों को जी भरकर निहारती है—नारी-अंग के उन मोहक उभारों को जो उसके सम्मोहन हैं! इतिहास बताता है—क्लियोपेट्रा के सान्निध्य के लिए विश्व के विशिष्टतम, श्रेष्ठतम पुरुष, लालायित रहते थे···! और उसी क्लियोपेट्रा ने, जो जीवन-भर अपनी त्वचा का सौन्दर्य निखरा रखने के लिए दूध से नहाती थी, अपना अन्तिम चुम्बन काले विषधर को दिया था कि वह चुम्बन उसके प्राण ले ले। सौन्दर्य की सम्राज्ञी ही नहीं, मिस्र की सम्राज्ञी क्लियोपेट्रा ने अन्तिम चुम्बन विषधर का क्यों चाहा था? क्या प्राप्त किया था? जल की फुहारों के नीचे बैठी, क्लियोपेट्रा के बारे में सोचती, शैला समय की गति भूल जाती है। उसे लगता है— समय का दीर्घ अन्तराल पार कर कोई क्लियोपेट्रा ही फिर जनम गई है—शैला कपूर के रूप में! तो क्या शैला को भी किसी विषधर का अन्तिम चुम्बन चाहना होगा? वरण करना होगा?

तीन, केवल तीन ही वर्षों के छोटे-से सुदीर्घ अन्तराल को पार करते हुए शैला के कदम शिथिल होने लगे हैं। उसे लगता है कि उत्तरों के

बीच वह एक प्रश्न बन गई है—एक प्रश्न ! या फिर अंकरहित शून्य-सी हो उठी है। शून्यों की संख्या बढ़ती जा रही है। अंक नहीं मिल पा रहे हैं।

एक प्रश्न ? एक अंक ? सानुपातिक कोणों पर सही मोहक नारी-देह ! अशोक पाण्डे से लेकर मिस्टर मेहरोत्रा तक की अभ्यर्थना। बढ़ता बैंक-बैलेंस ! शरीर के हर सुख की तुष्टि। और क्या चाहिए ? शैला ! ह्वाट ए ट्रेमेंडस राइज़ ! यू आर रियली फारचुनेट ! शैला कपूर, स्वयं को बधाई देने बढ़ती है तो सिर्फ शैला झिझककर पीछे हट जाती है ···हथेलियों से मुह छिपा लेती है···शायद कराहने लगती है···किन्तु शैला कपूर, उस 'सिर्फ शैला' पर हावी हो उठती है। उस कराह को एक मादक मुस्कान मे डुबा देती है। लिपस्टिक से गुलाबी होठों को इतना सुर्ख रंग लेती है कि उसे स्वयं लगता है, उसके होठ रंग-रंजित नहीं रक्त-रंजित हैं। 'ओह, दी फुलिश मी !' विजयिनी शैला कपूर, पराजित शैला को एक प्रबल धक्का और देती है, और 'प्लेटफार्म हील' की मंज़िल की खटखट करती एड़ियों से उस शैला को स्वयं रौंदकर बढ़ जाती है।

कभी-कभी शुरू में वह मुड़कर देखती भी थी कि उस शैला का क्या हाल है, जिसे धक्का देकर, गिराकर, वह आगे बढ़ आई है। तब कहीं शुरू-शुरू में कुछ दर्द जैसा भी होता था। लगता था—उस अप्रकट शैला को, मिस शैला कपूर ने कहीं सचमुच रौंदा है, आहत किया है, किन्तु धीरे-धीरे अप्रकट की वह वायवी शैला अधिकाधिक ठोस हो उठी—शैला कपूर के सम्मुख हार गई। मौन होती गई। उसकी उठती कराहों का, किसी प्रतिवाद का क्षीण स्वर, उसके स्वयं की उन्मुक्त हंसी में, मुक्त खिलखिलाहट में डूब गया, 'ह्वाट ए वण्डरफुल सेट ग्राफ टीथ यू पोज़ेस ! मिस कपूर, आपको तो किसी टूथपेस्ट के विज्ञापन के लिए लिया जाना चाहिए। मैं शर्त लगाता हूं कि आपकी इस जगमगाती हंसी, इन मोती जैसे दांतों के सामने और सारे टूथपेस्ट 'डब्बा' हो जाएंगे। च···च···कहीं बेचारे टूथपेस्ट बनाने वाले आत्महत्या न कर लें ! जैसे कि आपकी इस मुस्कराती अदा पर हम चुपचाप खुदकशी करते रहे हैं !' चोपड़ा पंजाबी है न, बेबाक बात कहता है, सीधी तोलती नज़र से देखता

है, और जिस शाम शैला उसके साथ सिनेमा देखती है, या काफी हाउस जाती है, उस शाम का खर्च वह उठाता है।

शहर का नामी गुण्डा 'बब्बन' जाने कितनी बार सीने पर हाथ मारकर कह चुका था, 'जियो, जियो छमिया ! किसी दिन इधर भी नजरे-इनायत होगी या हम इन्तजार ही करते रह जाएंगे ?' फिर एक दिन घेर ही लिया था···शैला को घबराकर पुलिस में रिपोर्ट करनी पड़ी थी और पुलिस ने, मिस्टर मेहरोत्रा के कारण, खास तौर पर शैला की सुरक्षा का इन्तजाम कर दिया था···बब्बन ने शैला का पीछा छोड़ दिया था। 'अब तुम्हें कोई डर नहीं है मिस कपूर !' मिस्टर मेहरोत्रा ने शैला को आफिस के कैबिन में ही खींचकर कस लिया था, 'अरे भई, शुक्रिया अदा भी नहीं करोगी ?'

मेहरोत्रा की छोटी-छोटी आंखें चमकने लगी थीं।

'थैंक यू सर, थैंक यू वेरी मच इण्डीड !' शैला को मेहरोत्रा ने उस दिन पहली बार कहा था···और बब्बन की वहशी आंखों से छुटकारा दिलाने की कीमत मेहरोत्रा ने अवसर मिलने पर कसकर वसूल कर ली थी।

इतनी बड़ी कम्पनी के चीफ बास मेहरोत्रा ने शैला को अपनी सुरक्षा में ले लिया था, 'नाऊ यू आर एण्टायरली सेफ, माई डियर ! कम आन ! फील इजी !' शैला से मेहरोत्रा बार-बार कहते रहे थे। और जो-जो आदेश वह देते रहे, शैला उनका पालन करती रही। 'देह-सुख को, देह से परे न जोड़ना, शैला की ज़िन्दगी की फिलासफी बन चुकी···फिर भी···उस रात बब्बन की वहशी आंखों से छुटकारा पाने की कीमत चुकाती शैला इतनी 'शीतल' होने लगी थी कि तब उसने पहली बार शैम्पेन भी पी थी···और एकदम चैतन्य हो उठी थी ! फिर पता नहीं वह शैम्पेन का नशा था या कोई और बेहोशी कि शैला को लगता रहा, मेहरोत्रा नहीं, बब्बन ही उसे नोंच-खसोट रहा है···। 'ट्रेण्ड कुत्तों' और जंगली भेड़ियों का फर्क, शैला को साफ-साफ समझ में आ गया था···और बस, इस 'फर्क' के अतिरिक्त शैला ने भी सवेरे तक और सब कुछ भुला दिया था···बस वह 'फर्क' उसे 'याद' रह गया था···।

× × ×

'ईगल' में फिल्म देखते हुए विनोद चोपड़ा ने सहसा शैला की हथेली दबाई, 'मे आई प्रपोज़ टू यू ?' वह शैला के कपोल पर झुक आया था।

'प्रपोज व्हाट ?' शैला ने न विनोद के हाथ से अपनी हथेली खींची न 'स्क्रीन' पर से अपनी आंखें हटाईं। वह जैसी सहजता से पिक्चर देख रही थी, देखती रही।

'प्रपोज मैरिज'''यानी कि मैं तुमसे शादी करना चाहता हूं।' विनोद ने शैला के कन्धे बांह में घेर लिए। उसकी सांसें गर्म हो उठी थीं। स्पर्श से शोले भड़क उठे थे। शैला ने वे 'शोले' महसूस किए, धीरे से हंसी, 'लगता है पिक्चर देखते-देखते तुम भी भड़क उठे हो !'

विनोद उत्तेजित हो उठा, 'तुम्हारा मतलब है मैं भी कोई सिनेमा का सीन कर रहा हू'''नो, जो मैं कह रहा हू, आई मीन इट, मानो कि मैं वास्तव में तुमसे शादी करना चाहता हू !'

'अच्छा पिक्चर के बाद बात करेंगे'''!' शैला सहज थी, सहज रही आई।

'पिक्चर के बाद नहीं, इण्टरवल के बाद, मुझे आज अभी जवाब चाहिए'''फिल्म मैं तुम्हें फिर दिखा दूगा—आई प्रामिस !'

'प्रामिस व्हाट ?' शैला फिर हंसी, 'अच्छा समझी, इण्टरवल के बाद की पिक्चर तुम मुझे फिर दिखा दोगे, यही न !'

विनोद आपा खो बैठा। शैला का हाथ खींचते उठा, 'न, अब तो एक सीन के लिए भी नहीं रुक सकता'''शैला कम आन, लैट अस गो टू काफी हाउस।'

विनोद शैला को खींचता-सा ले गया—टैक्सी में। काफी-हाउस की सीढ़ियां चढ़ते शैला के अंगों से जितना सट सकता था, सटा रहा और कैबिन का पर्दा खींचते, दो क्रीम काफी का आर्डर देते, विनोद की आंखों के डोरे सुर्ख हो उठे'''वे आंखें शायद शैला के मादक अंगों से फूटते नशे को पीती, लाल हो उठी थीं, किन्तु शैला की नीली आंखें, नीलाभ ही रही आईं। उनमें कोई लाल डोरे नहीं उभरे, वह आराम से काफी सिप कर रही थी।

'जवाब दो शैला, अभी इसी वक्त !'

'सोचूंगी, अभी शादी की जल्दी क्या है ?' शैला ने एक वंकिम कटाक्ष फेंका। अपनी उस दिलकश अदा के असर को वह जानती थी। चितवन के ऐसे तीर उसने साध लिए थे।

विनोद ने आधी पी हुई सिगरेट फर्श पर फेंकते, जूते से रगड़कर बुझा दी। वह लगभग चीख पड़ा, 'नहीं, तुम्हें जवाब अभी देना होगा—अभी इसी वक्त—दिस वेरी मोमेंट !'

'क्यों, चीख क्यों रहे हो ? क्या अधिकार है तुम्हें मुझपर···? डोण्ट लूज़ योर बैलेन्स विनोद !' शैला का स्वर सपाट था। गोरे मुंह पर 'मेकअप' के अतिरिक्त कोई और रंग नहीं था।

'अधिकार नहीं प्यार···आई लव यू ! मैं तुम्हें अपनी बनाना चाहता हूं। तुम बिल्कुल वैसी हो जैसी लड़की के सपने मैं देखता रहा हूं···यू आर जस्ट द गर्ल आफ माई ड्रीम्स ! और जानती हो, यदि हम-तुम एक हो जाएं तो जिन्दगी में क्या कुछ नहीं पा सकते, हासिल कर सकते···? आई हैव बीन विशिंग फार ए गर्ल विद नो टैबूज़ एण्ड यू आर जस्ट द परफैक्ट टाइप फार मी !'

'बट आई बिलीव इन टैबूज़ ! अगर शादी-वादी की बात हो तो फिर कुछ हटकर सोचना होगा।' शैला गम्भीर हो उठी।

'सत्तर चूहे खाकर !' विनोद आपा खो बैठा, 'बड़ी सती-सावित्री हो न।'

'मैंने कब कहा कि मैं सती-सावित्री हूं !' शैला बिलकुल संयत थी।

'तो फिर तुम्हें इन्कार क्यों है ? लुक हियर शैला, हम दोनों मिलकर बहुत ऊंचे उड़ सकते हैं, जिन्दगी के सारे सुख हासिल कर सकते हैं···फिर शादी तो एक नार्मल चीज है··· औरत और मर्द को एक-दूसरे की ज़रूरत होती ही है।' विनोद ने माथे का पसीना रूमाल से पोंछते, पूरा एक गिलास पानी पीकर दूसरी सिगरेट सुलगा ली।

'चीज···ज़रूरत···हां, अब तुमने बिल्कुल ठीक लफ्ज इस्तेमाल किए हैं···और यह भी बिल्कुल ठीक कह रहे हो कि अगर हम शादी का नाटक कर लें, तो सारे सुख हासिल कर सकते हैं, जिन्दगी में ऊंचे उठ

ही नहीं, उड़ भी सकते हैं, क्यों ?' शैला के होंठों पर, आंखों में व्यंग्य उभर आया था, 'और तुम्हें मेरा जवाब चाहिए न, इसी वक्त···तो मेरा जवाब 'ना' है···नो एण्ड नेवर !'

शैला की नीली आंखें जल-सी उठी थीं···विनोद की आंखों में भी अंगारे-से दहक उठे थे। उन जलती आंखों से एक-दूसरे को देखते, वे कुछ देर तक बैठे रहे···बैरा बिल ले आया था, 'आज बिल मैं 'पे' करूंगी, एण्ड लेट्स गो नाउ !' शैला उठ खड़ी हुई।

काफी-हाउस की सीढ़ियां साथ-साथ उतरकर विनोद और शैला दो विपरीत दिशाओं में मुड़ गए थे।

'मिस्टर पांडे, आज मन बहुत उदास है, शाम को कम्पनी देंगे ?' शैला टाइपराइटर पर दौड़ती अंगुलियां रोककर अशोक पांडे से पूछ रही थी।

अशोक अचकचा गया, 'लेकिन मिस शैला, मेरी कम्पनी आपको अच्छी लगेगी ?'

'हां, अच्छी लगेगी, तभी तो पूछ रही हूं !' शैला का स्वर कातर हो आया था—अप्रत्याशित रूप से कातर !

अशोक हतप्रभ हो उठा, 'यदि आप चाहेंगी तो क्यों नहीं ? आपका साथ तो इस नाचीज का सौभाग्य होगा।'

शैला ने कुछ देर और टाइप करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसकी अंगुलियां टाइपराइटर पर चलने से भी इन्कार कर रही थीं। वे अंगुलियां जो चलती नहीं दौड़ती थीं, जिनमें खूबसूरती और गति दोनों थीं। शैला को तेजी से टाइप करते देखकर वर्मा प्रायः रिमार्क कसता था, 'मिस शैला कपूर की नाजुक अंगुलियां और तेज स्पीड की रेस होती रहती है यार, काश ! हम टाइपराइटर ही होते !'

शैला ने हाथ रोक दिए। बाहर आकाश पर अचानक बादल घिर आए थे, फुहारें पड़ने लगी थीं। भयानक गर्मी के बाद यह इस वर्ष की वर्षा की पहली फुहारें थीं। हल्की फुहारें धीरे-धीरे तेज हो उठीं। वर्षा घनघोर हो उठी। मेघ गरजते रहे। बिजली कौंधती रही। बाहर

मेघों के कारण और भीतर बिजली गुल हो जाने के कारण इतना अंधेरा-सा हो गया था कि आफिस-रूम में सभीको अपना-अपना काम रोक देना पड़ा। और पता नहीं क्यों, उस दिन शैला को लेकर, निरन्तर बक-बक करने वाला वर्मा तक खामोश हो उठा था। धीरे-धीरे वर्षा का वेग घटा। हल्की-हल्की धूप निकल आई। मिट्टी से सोंधी गन्ध उठने लगी थी। शैला ने पहली बार उस सोंधी गन्ध को महसूस किया, वरना तो वह इतना सेण्ट लगाती थी कि कोई भी और सुगन्ध या दुर्गन्ध उस तक पहुंच ही नहीं पाती थी। शैला को याद आया—आज वह सेंट लगाना भूल गई थी शायद। तभी न मिट्टी से उठती इस सोंधी गन्ध को महसूस कर सकी। मिट्टी में भी इतनी सोंधी गन्ध हो सकती है—शैला ने कभी ध्यान नहीं दिया था।

वह तो मिट्टी से नफरत करती थी, नंगे पैर कमरे के फर्श पर भी पैर नहीं रखती थी। उसकी आया को सख्त हिदायत थी कि वह भी शैला का काम स्लीपर पहनकर किया करे। एक बार आया कीचड़ लगे पैरों से कमरे में आ गई थी, तो शैला चीखी थी, 'पूरे पांच रुपये फाइन करूंगी कम्बख्त, जो आइन्दा कमरे में कीचड़ लगे पैर रखे···।' फिर अपने बाथरूम स्लीपर उठाकर आया पर दनादन दे मारे थे। आया की आंखों में आंसू छलक गए थे। जिन्हें शायद स्लीपर पाने की खुशी ने तुरन्त सुखा दिया था, 'सारी मिस साब ! थैंक्यू मिस साब !' आया विशेष तत्परता से काम करने लगी थी। शैला को ही चक्कर आ गया था। दनादन फेंके गए स्लीपरों का अपमान, आया के काले कुरूप चेहरे पर, स्लीपरों की प्राप्ति की खुशी बनकर चमकने लगा था।

आया के काले होंठों पर एकाध बूंद खून भी चमकने लगा था। शायद चोट लग गई थी, 'ले ये आइण्टमेंट लगा ले, होंठ से खून निकल रहा है।' शैला ने आइण्टमेंट की ट्यूब भी उठाकर दे मारी थी।

'नहीं तो मिस साब, हमको चोट-वोट कुछ नहीं लगा···कभी नहीं लगता···हम बहुत सख्त जान हैं मिस साब !' आया ने दवा की ट्यूब उठाकर यथास्थान रख दिया, आंचल से होंठ पोंछ लिए और अपने काम में खुश-खुश लग गई।

लेकिन माया की मस्ती सफेद साड़ी के आंचल पर रक्त की वह एक बूंद, शैला को कई दिन तक 'हॉण्ट' करती रही थी।

काफी समय बीत गया था उस घटना को! आज अचानक, माया के गाल, कुरूप चेहरे पर स्लीपर की चोट के साथ, स्लीपर प्राप्ति की वह तृप्ति, उसके मैले, सफेद आंचल पर चमकती रक्त की वह एक बूंद ···शैला को फिर याद आ गई थी···। मिट्टी के प्रति शैला की तीव्र घृणा, आज अचानक, अनायास मिट्टी की सोंधी गन्ध के अहसास को तोलने लगी थी।

'वर्मा अशोक, अब तो आफिस का समय हो गया, सेट अस गो नाउ!' शैला पर्स संभालकर उठ खड़ी हुई। वक्ष पर आंचल भी संभाला अदा से···फिर अदा से नपे-तुले सधे कदम रखती चलने लगी। किन्तु आज वे कदम शिथिल हो उठे थे—किसी हार का-सा अहसास भी सिर्फ शैला को स्वयं ही हो रहा था। प्रकट में शैला का जीत का भाव वैसा ही था—दर्पित भंगिमा, बंकिम मुद्रा, मोहक उभारों के सधे कोण···! 'मिस कपूर, जमीन पर कदम कहां रखती हैं! वह तो हमारे सीनों पर चलती हैं—हमारी धड़कनों को ठोकरें मारती···।' विनोद चोपड़ा ने प्रतिशोध के स्वर में ज़ोर से कहा। वर्मा ने भी उन्मुक्त ठहाका लगाया, इतने ज़ोर से कि शैला अवश्य सुन ले, 'आज साले पांडे की तकदीर चेती है यार! देखो अपना नम्बर कब आता है···हाय!'

'कहां चलेंगे?' शैला ने अशोक से पूछा।

'जहां आप चाहें, काफी-हाउस, सिनेमा या कहीं भी आपकी शामें तो इन्हीं जगहों में बीतती हैं न!' अशोक के स्वर में कोई व्यंग्य नहीं था। सीधा-सादा सरल स्वर, कवियों जैसी बड़ी-बड़ी भावपूर्ण आंखें और चेहरे पर एक मासूमियत···न वह सिगरेट पीता था, न ठहाके लगाता था···बस, कभी-कभी शैला को देखकर गुनाता-सा गुनगुनाता था, 'तुम्हारे नील झील-से नैन, नीर निर्झर-से लहरे केश!'

'एक नीली झील है यहां, शहर से दूर वहां चलेंगे?' शैला ने टैक्सी में बैठते कहा था।

'नीली झील तो आपकी आंखों में भी है। गुस्ताखी माफ कीजिएगा,

आपने कभी अपनी ही नीली झील-सी आंखों में झांककर देखा है ?' अशोक निर्निमेष शैला को देखता कह रहा था।

'मैं खुद, अपनी आंखों में झांकने की बेवकूफी नहीं करती···ये झीलें तो आप लोगों के डूब मरने के लिए हैं !' शैला का दर्प मुखर हो उठा।

वे उस नीली झील के किनारे आ बैठे थे···शैला झील के शांत जल में छोटे-छोटे कंकड़-पत्थर उठाकर फेंके जा रही थी—लगातार फेंके जा रही थी। अशोक ने देखा—नीली झील में फेंके जाते पत्थरों के कारण उठती हलचल, हलचल के वे आवर्त्त, शैला की नीली झील-सी आंखों में भी प्रतिबिम्बित हो रहे थे।

'क्या बात है शैलाजी ? आज आप कुछ परेशान हैं ?'

'नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं। शायद आपको मालूम नहीं कि मैं मिस्टर मेहरोत्रा के साथ अगले हफ्ते यूरोप जा रही हूं—पूरे तीन महीने के लिए कंपनी की तरफ से। अब तो मैं खुश हूं, बेहद खुश। सब कुछ तो हासिल कर चुकी मैं, जो पाना चाहती थी···। बस, एक हसरत थी कि सारी दुनिया देख डालूं, वह भी पूरी हो रही है। अब तो मिस शैला कपूर जमीन पर नहीं आसमान पर, हवाओं में कदम रखेगी। और जमीन ही नहीं, आसमान भी उसके खूबसूरत पैर चूमेगा।' शैला ने सैंडिल उतारकर अपने कबूतरों-से उज्ज्वल, कोमल पैर अशोक के सामने कर दिए, 'शुरुआत आप ही क्यों नहीं करते ? पहला मौका आपको देती हूं।'

'गुस्ताखी माफ मिस शैला ! मैं 'मैरीड' हूं यानी कि शादीशुदा, दो बच्चों का बाप भी। मेरी पत्नी आपके इन खूबसूरत पैरों की धूल भी नहीं है···और यह भी सच है कि मैं आपके सौंदर्य पर मुग्ध हूं। कितनी बार तो सुना चुका, तुम्हारे नील झील-से नैन···पूरा गीत सुनेंगी ?'

'हां !' कहती शैला ने पलकें झपकाईं, सरककर अशोक की गोद में अपनी सुनहरी केशराशि वाला सिर रख दिया, अशोक के गले में बांहें डालकर अपने होंठों पर झुकाया, एक चुम्बन ले लिया, 'बस, घबराइए नहीं, आपसे इससे ज्यादा कुछ नहीं मांगूंगी। आप देना भी चाहेंगे तो

भी नहीं। बस, वह गीत सुना दीजिए।'

शैला ने आंखें मूंद लीं। अशोक की गोद में सिर रखे, पलकें मूंदे, शैला का वह मोहक चेहरा आंसुओं से भीगने लगा था। अशोक ने वे आंसू पोंछने चाहे।

'न, इन्हें बहने दीजिए, बस, आज वह गीत पूरा सुना दीजिए···!'

सांझ की छाया गहरा उठी थी। नीले मेघों के कारण सांझ के रंग भी नीले हो उठे थे और आकाश की गहराती श्यामली आभा की छाया के कारण नीली झील का दर्पण-सा पानी और भी गहरा नीला हो उठा था···अशोक मुग्ध स्वरों में गीत गाने लगा था—

'तुम्हारे नील झील-से नैन नीर निर्झर-से लहरे केश!···गीत की समाप्ति पर अशोक ने झुककर शैला के होंठ नहीं, आंखें चूम लीं, 'माफ कीजिएगा, शैलाजी, इतना गुनाह तो मुझसे हो ही गया।'

शैला ने पलकें खोलीं। निर्निमेष अशोक को देखने लगी—देखती रही!

'क्षमा कीजिएगा शैलाजी, घर पर पत्नी इंतजार कर रही होगी। जब तक नहीं लौटूंगा, भूखी बैठी रहेगी। ऐसी बेवकूफ औरत से पाला पड़ा है कि क्या बताऊं! अब हमें चलना चाहिए।' अशोक की शैला को देखती दृष्टि मुग्ध भी थी, संयत भी।

गहरे नीले आकाश पर, वर्षा के कारण धुले-निखरे वातावरण में, सितारों की जगमगाहट विशेष उज्ज्वल हो उठी थी।

'बस चलता तो सितारों के दो फूल आपकी इस सुनहरी केशराशि में सजा देता···। लेकिन मैं बहुत अकिंचन हूं शैलाजी!' अशोक के स्वर में केवल एक सुगन्धित निर्दोष अभ्यर्थना थी—उस मिट्टी की सोंधी गन्ध-जैसी, जिसे आज शैला ने पहली बार महसूस किया था, किन्तु, जो शैला के भीतर कहीं गहरे में उतर गई थी।

शैला को टैक्सी से उसके फ्लैट पर छोड़ते अशोक ने कहा, 'मैं बस से चला जाऊंगा और आपको यूरोप-यात्रा के लिए बहुत शुभकामनाएं···। बधाई!' नमस्कार करता अशोक चला गया, 'आपको तो नहीं, किन्तु

मुझे आज की सांझ सदा याद रहेगी'''।' अशोक के स्वर की दूर होती प्रतिध्वनि शैला के निकट ध्वनित हो रही थी।

फ्लैट के दरवाज़े पर मेहरोत्रा का शोफर इन्तज़ार कर रहा था, 'साहब आज रात को आने को मांगता है।'

शैला चीख पड़ी, 'टु हैल दि योर साहब।' दूसरे ही क्षण शैला को अपनी गलती समझ में आ गई, 'ओह! मेरी तबीयत ठीक नहीं है आज, इसलिए गुस्सा आ गया'''साहब से कुछ मत कहना, बस यह चिट दे देना कि आज माफी चाहती हूं।'

शैला ने पूरे पांच रुपये का नोट शोफर को एक चिट के साथ दिया था, 'आई एम वेरी सारी मिस्टर मेहरोत्रा। नाट फीलिंग वेल टुनाइट। यू आर मोस्ट वेलकम टुमारो।'

सलाम ठोकता शोफर चला गया।

शैला ने कमरे का दरवाज़ा बन्द किया, खिड़कियों के पर्दे खींच दिए, बैड लैंप आन किया, हल्के नीले प्रकाश में दर्पण के सम्मुख खड़ी, अपने हाथों स्वयं को अनावृत्त करने लगी'''फिर मेज़ की ड्राअर से मदिरा निकाली—बग़ैर सोडा या पानी मिलाए एक पैग लिया। दर्पण के सम्मुख खड़ी जाने कब तक स्वयं को देखती रही—अपने तराशे हुए नख-शिख को, मोहक उभारों को! सहसा याद आया—अशोक ने क्या कहा था? हां कहा था, 'आपने कभी अपनी ही नीली झील-सी आंखों में झांककर देखा है?'

और शैला ने क्या उत्तर दिया था'''? हां, उत्तर दिया था, 'मैं खुद अपनी आंखों में झांकने की बेवकूफी नहीं करती'''ये झीलें तो आप लोगों के डूब मरने के लिए हैं'''।'

और'''उन क्षणों, पहली बार अपनी नीली झील-सी आंखों की गहराई में झांकते, शैला का जी चाहा था, 'वह स्वयं इनमें डूब मरे!'

बीच का आदमी

'सबार ऊपर मानुष सत्य, ताहार ऊपर नाईं रे'—कवि चंडीदास का यह तन्मय स्वर जाने कब से मेरी चेतना में प्रतिध्वनित होता रहा है···कदाचित् उसी क्षण से जब स्वयं मुझमें भी अपनी मानवीय अस्तित्व-चेतना की प्रतीति हुई थी।

ऐसे मानवीय अस्तित्व की परिभाषा को साकार देखने के लिए मैंने अपने चारों ओर देखना शुरू किया तभी न भरी भीड़ के बीच मुझे अकेलापन लगता है···भौतिक स्तर पर अनेक स्थूल उपलब्धियों के बीच भी किसी शून्य के विराटतर होते जाने का आभास सघन होता जाता है···स्थूल स्तर पर जयघोषों के बीच, लगता है मैं बहरी हो गई हूं···भौतिक धरातल पर आकाश में जितना उठती जाती हूं, सूक्ष्म स्तर पर पैरों के नीचे जमीन उतनी ही धसकती प्रतीत होती है।

चिकित्सक कहते हैं—'देह के स्तर पर ये इतनी 'एनीमिक' क्यों हैं? काफी कुछ तो प्राप्त है इन्हें, फिर ये सुखी क्यों नहीं? इनमें जीने की कामना क्यों नहीं? देखिए, ऐसा कीजिए, इन्हें जरा 'चेंज' के लिए ले जाइए।' चिकित्सक मेरे अभिभावकों से कहते हैं। फिर मुझे समझाते हैं—'देखिए, आप अपने अन्दर जीने की इच्छा पैदा कीजिए, सब कुछ तो मिला हुआ है आपको—सब कुछ।' हां, निस्सन्देह सब कुछ तो मिला हुआ है मुझे···विद्रूप का एक नश्तर मैं स्वयं अपने वक्ष में उतार लेती हूं, सचमुच मेरे अभिन्न ठीक कहते हैं—'यू आर रियली ए जीनियस!' गोल्डस्मिथ ने कहा है, 'जीनियस वही है जो बातें अक्लमंदों-सी करे और हरकतें बेवकूफों-सी,' इसलिए मैं अक्लमंद बेवकूफ हूं। निस्संदेह हूं—लीजिए, मैं इसे स्वीकार किए लेती हूं।

हां, तो उस दिन एक ऐसे ही स्वीकार के वाद मैं सिनेमा जाने के लिए तैयार हुई। 'चेंज' मुझे 'चेंज' चाहिए...। सिनेमा देखना चाहिए, लोगों से मिलना-जुलना चाहिए, भीतर से वाहर की ओर आना चाहिए, 'प्रैक्टिकल' होना चाहिए।

देर तक गरम पानी से स्नान के वाद, सारे वदन पर टैलकम पाउडर छिड़कते, रेशमी साड़ी लपेटते, दर्पण में अपनी ही छवि को आंखों में भरे जनवरी के आकाश को देखा। निरभ्र, नीला, अंतहीन विस्तार गुन-गुनी रेशमी धूप के स्पर्श विखेर रहा था...हवाओं में फूलों से लदे खड़े वृक्षों से विखरती मादक मधुर सुगंध थी...यह स्पर्श। यह सुगंध। यह सव भी तो एक 'सच' है। आओ मेरे मन, इस सच को भी जी लो... यदि ये आंखें न मिली होतीं, तो कैसे तुम आकाश के इस निरभ्र नीले विस्तार को देखतीं। अगर ये सांसें न मिली होतीं, तो कैसे तुम फूलों की इस मादक मधुर गंध को प्राणों में उतारतीं...? देह के इन खूवसूरत सचों को भी स्वीकार करो पगली। अपने 'खूवसूरत सच' को भी...

चलिए ज़रा यह कहानी टाइप होने को देती चलूं। जोशीजी का घर रास्ते में ही तो पड़ेगा, देते चलेंगे...आज शनिवार है, कल तक वे कहानी टाइप कर ही देंगे। इधर कई वार पूछ चुके हैं—आप कुछ लिख नहीं रहीं, मैं टाइप के लिए प्रतीक्षा करता रहता हूं।' मैं कहानी की पांडुलिपि दोहराने लगी थी।

पतिदेव ने एक वैंजनी फूलों-लदे पेड़ के नीचे स्कूटर रोक दिया, पूछ रहे थे—'आज तवियत कैसी है?'

'आज तो एक दीर्घ अंतराल के पश्चात मैं इतनी ठीक हूं। देख नहीं रहे, विलकुल आपके अनुसार प्रैक्टिकल हो रही हूं।' मैं मुस्कराने का प्रयास कर रही थी, सचमुच मुसकराने भी लगी थी।

हवा का एक झोंका आया, कुछ वैंजनी फूल हमपर वरस गए। पांडुलिपि पर दृष्टि दौड़ाते मैंने कहा, 'जरा यह गुच्छा मेरे केशों में अपने हाथ से टांक दीजिए, वाई-चांस आज मैंने वैंजनी साड़ी भी पहनी है... देखिए, मैच करती चूड़ियां भी पहनी हैं, विंदी भी वैंजनी है...अव यह आपके हाथों से केशों में टंका गुच्छा मेरे मेकअप को परफेक्ट कर देगा।'

पतिदेव ने दो कूप मेरे केशों से पटक दिए—मुझे अब तक दूर तक मनचाहा देख रहा था……'

'क्या हुआ ? क्या इस बार फिर किसी संपादक के स्वर उभर रहे हैं ?'

'नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है…केवल… केवल…तुम्हारी यह कहानी टाइप नहीं हो सकेगी।' पतिदेव मुझे निर्निमेष देख रहे थे।

'क्यों ? कहानी लिखी जा चुकी है। जोशीजी दो दिन को हैं और उनका घर रास्ते में ही तो पड़ता है''

'बात यह है कि…कि…' पतिदेव ने मेरी हथेली थाम ली, 'जोशीजी नहीं रहे'' अचानक सीढ़ियों से फिसलकर परसों उनकी मृत्यु हो गई… सिर फट गया था।'

लेकिन, लेकिन, परसों सवेरे ही तो मैं उनसे मिली थी'' उन्हें कुछ कविताएं दी थीं टाइप होने को, लेने गई तो वे स्वयं मुझे तक आए, कह रहे थे—'आप डॉक्टर के पास से लौटते हुए ले लीजिएगा, अभी टाइप किए देता हूं। और मुझे बड़ी खुशी है कि आप अपनी सुंदर कविताएं लिखती हैं…देखिए न, कितना सुन्दर गीत है'' बड़ी प्यारी बातें……न कर सकी……' जोशीजी मगन हुए कह रहे थे।

मुझे शरारत सूझी—'लेकिन जोशीजी, यह तो मेरी पहली प्रेम-गीत है…अब तो प्यार नहीं, दुःख ही अधिक भाता है''' अच्छा जाने दीजिए, आपके लिए आगामी प्यार ही सही''। लेकिन अब तैयार रहिए, मेरी अगली कहानी के नायक आप होंगे।'

वे अचकचा गए, जैसे किसी अप्रत्याशित धक्के से किंकर्तव्यविमूढ़ हों, या हतप्रभ हो गए हों। 'मैं—मैं तो बिल्कुल मामूली आदमी हूं मुझ पर क्या कहानी लिखेंगी आप ? नहीं-नहीं, ऐसा मत कीजिएगा''' मुझे तो गुमनाम ही रहने दीजिए'' ' वे बेहद संकुचित हो उठे।

'ऊहूं। अब नहीं छोड़ूंगी आपको। अगली कहानी निश्चय ही आप पर होगी''' मुझे उनके चेहरे में किसी चुरा-लिया आनंद आ गया था''।

वैसे, वह एक साधारण दिन था, रोज जैसी धूप, रोज जैसी हवा—कॉलेज में भीड़-भाड़, ध्यान लेकर, सड़क पर निकलकर जाती हुई ……

का शोर।

कुछ अलग-अलग खंड थे, क्षणों के, स्थितियों के, एक ही व्यक्ति के बदलते हुए चेहरे-से ! पर जब सब अनायास जुड़ गए थे, तब एक चित्र संपूर्ण हो उठा था। ···याद आ रहा था—एक दिन वे सब्जियों का थैला थामे, उसके भार से झुके-से चल रहे थे, साथ में धर्मपत्नी थीं, एक साधारण-सी महिला। हां, भारतीय पत्नीत्व और मातृत्व की अदृश्य रेखाएं उस साधारण नारी-मुख पर भी स्पष्ट थीं···एक तृप्ति में भीगी-सी···।

पतिदेव ने स्कूटर रोका, मुझे कहानी टाइप के लिए देनी थी। मैं पांडुलिपि देती, जोशीजी को टाइप के कुछ विशेष संकेत दे रही थी कि उनकी पत्नी एक और थैला भर लाईं। 'अब गेहूं और दाल भी लेती चलूं, तो दोबारा आना नहीं होगा,' वे कह रही थीं।

'अच्छा किया, लाओ वो थैला मुझे दो। तुमसे नहीं संभलेगा। तुम केवल बहनजी की यह नोटबुक पकड़ लो, संभालकर। देखो गिरा मत देना,' जोशीजी बोले।

'अजी, एक थैला तो मुझे उठाने दो। तुम दोनों कैसे उठाओगे ?' वे कह रही थीं।

'नहीं, मैं दो क्या, चार थैले उठा सकता हूं···तुम दो भी···। अभी घर चलकर तुम्हें रोटी बनानी है, बरतन धोने हैं···मुझे क्या करना है··· चलो ,चलो'···जोशीजी ने थैला छीनकर उठा लिया, सिर झुकाकर हमें अभिवादन करते वे बढ़ गए थे।

मैं एक शाम उनकी कोठरी में पहुंची थी। पतिदेव ने कहा था, 'तुम्हें चरित्र चाहिए न, तो चलो, जोशीजी को उनके परिवेश में देखो··· तुम्हारी सनकी दृष्टि, जहां कुछ नहीं होता, वहां जाने क्या-क्या देख लेती है !'

हम जोशीजी की कोठरी में पहुंचे तो नंगे बदन टाइपराइटर पर उंगलियां दौड़ाते वे हमें देखकर सकपका गए, 'जी···जी···आपका ही काम कर रहा था।···अरे, मेरा कुरता दो भाई···कहां रख दिया···' वे कुरता ढूंढ़ने लगे थे···मैंने देखा, उस दुर्बल वक्ष की एक-एक पसली

गिनी जा सकती थी···कोठरी का वातावरण दमघोंटू था, बिजली का बल्ब इतना मद्धिम कि इतने प्रकाश में वे टाइप कैसे कर रहे हैं, मैं चकित थी !

वे कुरता पहनकर बैठ गए थे। मैंने देखा, जल्दी में उन्होंने कुरता उलटा पहन लिया था और बटन टूटते ऐंठे जा रहे थे, 'आपने कुरता उलटा पहन लिया है···' मुझे हंसी आ गई थी···पतिदेव भी हंस पड़े थे···जोशीजी स्वयं भी हंसने लगे थे···'आजकल बेटी के ब्याह की तैयारी में कुछ सुध नहीं रहती···अरी सुषमा—इधर आना तो।'

उनकी सोलह वर्षीया तीसरी पुत्री, सामने आ खड़ी हुई। सांवला रंग, साधारण नाक-नक्श। विवाह के पूर्व की तेल-हल्दी चढ़ने के कारण, पीताभा से घिरी-सी। ऐसी लड़कियां भारत के हर मध्यवर्गीय परिवार में होती हैं, किन्तु जोशीजी की ममत्व-भरी दृष्टि में जैसे उनकी सुषमा कुछ 'अपूर्व' थी —'यह मेरी लाडली छोटी बिटिया है, बस इसके हाथ पीले कर दूं, फिर कोई चिन्ता नहीं···।'

'कितना खर्च कर रहे हैं ?' मैंने एक दुनियादारी का प्रश्न किया।

'जी, सुषमा मेरी अंतिम संतान है, इसके लिए जो करूं सो थोड़ा···। सुषमा को अच्छा वर मिला है, तो खर्च करना ही पड़ेगा···कुछ रुपया कर्ज भी लिया है, किस्तों में चुका दूंगा। बस, आशीर्वाद दीजिए, सुषमा सुखी हो।'

मैंने देखा, वह मद्धिम प्रकाश प्रतिभासित-सा हो उठा था···। आज भी औसत भारतीय पिता पुत्री के विवाह के लिए कर्ज लेता ही है··· मेरा दरजी, मेरा धोबी और ये जोशीजी···सब जड़-संस्कारों के गुलाम, ऐसे ही रूढ़ियों में बंधे, दुर्बल, बेवकूफ पिता हैं, जो बेटी की मांग में सिंदूर-भरा देखने के लिए अपने रक्त की बूंदों का चुपचाप तर्पण करने लगते हैं।

सहसा मुझे अपनी एक मान्यता, अपना एक लेखकीय वक्तव्य याद आया, 'यदि देवत्व एक भ्रम है, तो पशुत्व भी सच नहीं···आदमी तो इन दोनों के बीच कहीं होता है'—वही 'बीच का आदमी,' उस दमघोंटू कोठरी के मध्यम प्रकाश में उलटा कुरता पहने बैठा था···।

•

'अब चलो,' पतिदेव कह रहे थे। जानते थे, ऐसी कोठरी में मैं तो एक घंटे भी सांस नहीं ले सकती। मैंने चुपचाप पेड़ा उठा लिया, खाया नहीं। पतिदेव ने पेड़ा मुंह में रखते मेरा हाथ थामा, 'बांह पकड़ लो, सीढ़ियों पर अंधेरा है, गिर पड़ोगी।'

...और उन्हीं अंधेरी सीढ़ियों से फिसलकर जोशीजी का सिर फट गया था...सुना, उस दिन बिजली फेल हो गई थी और किरॉसिन घर में था नहीं कि लालटेन जलाई जा सकती। जोशीजी मोमबत्ती लाने सीढ़ियां उतर रहे थे कि...

सुना, मृत्यु के समय वे चाबी के गुच्छे को कसकर पकड़े हुए थे... कालेज के ऑफिस की चाबी के गुच्छे को...वे कालेज के एकाउंटेंट थे। हजारों रुपये कालेज की सेफ में रखे थे...उस दिन तीस तारीख थी और पहली को कालेज के स्टाफ का 'पे-डे' था...वे होश में आए ही नहीं... अन्यथा कदाचित् कालेज के प्रिंसिपल महोदय को सौंपकर ही मरते... कदाचित् अचेतावस्था में अंतिम क्षणों में उनका अंतिम कर्तव्यबोध या कर्म-बोध यही था।

पतिदेव, बैंजनी फूलों से लदे पेड़ के नीचे, मेरी हथेली थामे, जोशीजी की मृत्यु के ये साधारण 'डिटेल्स' सुना रहे थे...रह-रहकर बैंजनी फूलों के गुच्छे टपक रहे थे, किन्तु मैं फिर बहक गई थी—पतिदेव ने कंधा हिलाया, 'सवा तीन हो रहे हैं मैडम, फिर मैटिनी का समय नहीं रहेगा... चलो, अब जोशीजी की आत्मा के लिए प्रार्थना करती रहना, उनकी देह तो शांत हो ही चुकी है...भले आदमी थे बेचारे...'

मेरे मन-मस्तिष्क में, आंखों में, जोशीजी की स्मृति के इधर-उधर बिखरे टुकड़े भी जुड़कर मूर्ति गढ़ चुके थे।

मैंने पलक मूंद ली...धड़कन जोशीजी की आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करने लगी थीं और फिर लग रहा था, मैं कोई आरती का दिया जला रही हूं, पुष्पों से भरी अंजली किसी देव-प्रतिमा के चरणों पर चढ़ा रही हूं...और अनुच्चारित मंत्रों की ध्वनि से दिशाएं ध्वनित हो उठी हैं।

'न...अब आज नहीं...घर लौट चलिए...मुझे कहानी लिख लेने दीजिए...' मैं पलक मूंदे पतिदेव से कह रही थी।

'अरे भई, कहानी कल लिख लेना। तुम्हें सिनेमा ले चलने की फुरसत तो मुझे आज ही है, फिर पूरा सप्ताह बिज़ी है, जानती तो हो।'

'हां जानती हूं···अब पूरे सप्ताह मैं भी बिज़ी रहूंगी···कहानी तो ख़ैर एक दिन में लिख जाएगी—किन्तु जोशीजी, क्या एक मास तक भी पीछा छोड़ेंगे ?'

और, जोशीजी की मृत्यु को पूरा एक मास बीत गया है···उन्होंने मेरा पीछा आज भी नहीं छोड़ा है···जब-तब आ घेरते हैं—बदलते चेहरे लेकर।

सलीब पर

'बाबूजी···बाबूजी···हूं ऽ ऽ···,' एक गम्भीर स्वर गूंजा।

छतवाली कोठरी में आरामकुर्सी पर अधलेटे पड़े बाबूजी चौंके। छाती पर रखा अखबार सरककर नीचे गिर पड़ा। शायद अखबार पढ़ते-पढ़ते वे ऊंघ गए थे। तन्द्रा से होश में आते बाबूजी लड़खड़ा गए। खड़े-खड़े लड़खड़ाने की स्थिति कोई भी समझ सकता है। किन्तु बैठे या लेटे होने की मुद्रा में लड़खड़ाने की अनुभूति का अर्थ समझाया नहीं जा सकता। ऐसा लड़खड़ाना एक त्रासदी होता है—अदृश्य, अनकही।

कभी-कभी झंझावातों को समेटे हवा कितनी चुप होती है···। कभी ज्वारों को समेटे सागर कितना खामोश होता है। कभी ऊपर से सब कुछ कितना शान्त रहता है और भीतर कहीं कुछ खंड-खंड हो जाता है। बाबूजी ने ऐसी ही झंझावातों को समेटे खामोशी झेली है···। फिर ऐसे टूट गए हैं, जैसे आसमान से कोई सितारा टूट जाता है···। और कोई आवाज़ नहीं होती।

बरसों पहले बिशन छोटा था और सुमित्रा फिर गर्भवती थीं, तो गर्मी की एक रात बाबूजी खुले में लेटे थे। बड़ी अशान्त थी वह रात। रात के वक्ष में ही नहीं, बाबूजी के वक्ष में भी भारी तपन थी। जैसे सारे दिन वे भी प्रचंड आग झेलते रहे हों। बेचैनी से करवटें बदलते वे आकाश के तारों-जड़े शून्य को निहार रहे थे। तभी एक सितारा टूटा था। बाबूजी एकदम से कांप गए थे। पास लेटी सुमित्रा से बोले थे—'सुमित्रा, तुमने देखा अभी एक तारा टूट गया···'

सुमित्रा भी बेचैन थी, शायद गर्भ के भार से। 'तारे तो टूटते ही रहते हैं, तुम ज़रा-ज़रा-सी बात को लेकर परेशान क्यों होते हो ? पांव

दवा दूं ? नींद आ जाएगी।'

उठती सुमित्रा को रोकते बाबूजी ने कसकर आंखें मूंद ली थीं। हां, तारे तो टूटते ही रहते हैं'''एक और भी टूट गया तो क्या'''! चुपचाप टूटकर शून्य में समा गए उस सितारे-सा बाबूजी का भी भविष्य निश्चित था।

तब बाबूजी पच्चीस-छब्बीस के रहे होंगे। देश में गूंजते 'इन्क-लाब ज़िन्दाबाद' के स्वर ने उनकी शिराओं में भी आग फूंक दी थी। वे स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेना चाहते थे, जेल जाना चाहते थे, यज्ञ में अपनी आहुति देना चाहते थे।

एक रात वे देर से लौटे तो सुमित्रा बिशन को छाती से चिपटाए सो गई थी। पास रखा खाना थाली से ढंका था। कटोरी में ढके गिलास में पानी था और सुमित्रा के कपोलों पर बहकर सूख गए आंसुओं के निशान थे। माथे पर बड़ी-सी लाल बिन्दी और मांग में ढेर सारा सिन्दूर'''। बाबूजी चुपचाप उन आंसुओं के निशान, उस बिन्दी और उस सिन्दूर को देखते रहे। सुमित्रा का मुख इतना निर्दोष था कि बाबूजी की आंखें नम हो गईं।

तभी सुमित्रा चौंकी, उठ बैठी। बाबूजी के पैरों से लिपट गई— 'आ गए तुम'''मैं तो समझी कि तुम पकड़ लिए गए'''अब तुम्हें जेल होगी'''और मैं और बिशन'''तुम जानते हो मेरे तो मायके में भी कोई नहीं है।' सुमित्रा फूट-फूटकर रोने लगी थी।

बाबूजी ने सुमित्रा को गले से लगा लिया था। 'नहीं, ऐसा नहीं होगा, मैं तुम्हें बेसहारा नहीं छोड़ूंगा। देश के साथ मेरा तुम्हारे प्रति भी तो कर्तव्य है।'

सुमित्रा ने आंसू पोंछ लिए—'तो तुम सुराजियों का साथ छोड़ दोगे न, हमारी खातिर''' मेरी और बिशन की खातिर'''

बाबूजी कुछ क्षण चुप रहे—'हां, तुम्हारी और बिशन की खातिर''' खाना उठा दो, अब भूख नहीं है।' उस क्षण की याद आते आज भी बाबूजी के गले में कौर फंसने लगते हैं। और बाबूजी को लगता रहा है जैसे उन्होंने आत्मघात कर लिया हो। उनकी शिराओं में धधकती आग

सलीब पर

'बाबूजी···बाबूजी···हूँ ऽ ऽ···,' एक गम्भीर स्वर गूंजा । छतवाली कोठरी में आरामकुर्सी पर अधलेटे पड़े बाबूजी चौंके । छाती पर रखा अखबार सरककर नीचे गिर पड़ा । शायद अखबार पढ़ते-पढ़ते वे ऊंघ गए थे । तन्द्रा से होश में आते बाबूजी लड़खड़ा गए । खड़े-खड़े लड़खड़ाने की स्थिति कोई भी समझ सकता है । किन्तु बैठे या लेटे होने की मुद्रा में लड़खड़ाने की अनुभूति का अर्थ समझाया नहीं जा सकता । ऐसा लड़खड़ाना एक त्रासदी होता है—अदृश्य, अनकही ।

कभी-कभी झंझावातों को समेटे हवा कितनी चुप होती है···। कभी ज्वारों को समेटे सागर कितना खामोश होता है । कभी ऊपर से सब कुछ कितना शान्त रहता है और भीतर कहीं कुछ खंड-खंड हो जाता है । बाबूजी ने ऐसी ही झंझावातों को समेटे खामोशी झेली है···। फिर ऐसे टूट गए हैं, जैसे आसमान से कोई सितारा टूट जाता है···। और कोई आवाज़ नहीं होती ।

बरसों पहले बिशन छोटा था और सुमित्रा फिर गर्भवती थीं, तो गर्मी की एक रात बाबूजी खुले में लेटे थे । बड़ी अशान्त थी वह रात । रात के वक्ष में ही नहीं, बाबूजी के वक्ष में भी भारी तपन थी । जैसे रे दिन वे भी प्रचंड आग झेलते रहे हों । बेचैनी से करवटें बदलते आकाश के तारों-जड़े शून्य को निहार रहे थे । तभी एक सितारा ा था । बाबूजी एकदम से कांप गए थे । पास लेटी सुमित्रा से बोले —'सुमित्रा, तुमने देखा अभी एक तारा टूट गया···'

सुमित्रा भी बेचैन थी, शायद गर्भ के भार से । 'तारे तो टूटते ही हैं, तुम ज़रा-ज़रा-सी बात को लेकर परेशान क्यों होते हो ? पांव

दवा दूं ? नींद आ जाएगी।'

उठती सुमित्रा को रोकते बाबूजी ने कसकर आंखें मूंद ली थीं। हां, तारे तो टूटते ही रहते हैं···एक और भी टूट गया तो क्या···! चुपचाप टूटकर शून्य में समा गए उस सितारे-सा बाबूजी का भी भविष्य निश्चित था।

तब बाबूजी पच्चीस-छब्बीस के रहे होंगे। देश में गूंजते 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के स्वर ने उनकी शिराओं में भी आग फूंक दी थी। वे स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेना चाहते थे, जेल जाना चाहते थे, यज्ञ में अपनी आहुति देना चाहते थे।

एक रात वे देर से लौटे तो सुमित्रा बिशन को छाती से चिपकाए सो गई थी। पास रखा खाना थाली से ढंका था। कटोरी में ढके गिलास में पानी था और सुमित्रा के कपोलों पर बहकर सूख गए आंसुओं के निशान थे। माथे पर बड़ी-सी लाल बिन्दी और मांग में ढेर सारा सिंदूर ···। बाबूजी चुपचाप उन आंसुओं के निशान, उस बिन्दी और उस सिन्दूर को देखते रहे। सुमित्रा का मुख इतना निर्दोष था कि बाबूजी की आंखें नम हो गईं।

तभी सुमित्रा चौंकी, उठ बैठी। बाबूजी के पैरों से लिपट गई— 'आ गए तुम···मैं तो समझी कि तुम पकड़ लिए गए···अब तुम्हें जेल होगी···और मैं और बिशन···तुम जानते हो मेरे तो मायके में भी कोई नहीं है।' सुमित्रा फूट-फूटकर रोने लगी थी।

बाबूजी ने सुमित्रा को गले से लगा लिया था। 'नहीं, ऐसा नहीं होगा, मैं तुम्हें बेसहारा नहीं छोड़ूंगा। देश के साथ मेरा तुम्हारे प्रति भी तो कर्तव्य है।'

सुमित्रा ने आंसू पोंछ लिए—'तो तुम सुराजियों का साथ छोड़ दोगे न, हमारी खातिर··· मेरी और बिशन की खातिर···'

बाबूजी कुछ क्षण चुप रहे—'हां, तुम्हारी और बिशन की खातिर··· खाना उठा दो, अब भूख नहीं है।' उस क्षण की याद आते आज भी बाबूजी के गले में कौर फंसने लगते हैं। और बाबूजी को लगता रहा है जैसे उन्होंने आत्मघात कर लिया हो। उनकी शिराओं में धधकती आग

दवा दूं ? नींद आ जाएगी।'

उठती सुमित्रा को रोकते बाबूजी ने कसकर आंखें मूंद ली थी। हां, तारे तो टूटते ही रहते हैं···एक और भी टूट गया तो क्या···! चुपचाप टूटकर शून्य में समा गए उस सितारे-सा बाबूजी का भी भविष्य निश्चित था।

तब बाबूजी पच्चीस-छब्बीस के रहे होंगे। देश में गूंजते 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' के स्वर ने उनकी शिराओं में भी आग फूंक दी थी। वे स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेना चाहते थे, जेल जाना चाहते थे, यज्ञ में अपनी आहुति देना चाहते थे।

एक रात वे देर से लौटे तो सुमित्रा बिशन को छाती से चिपटाए सो गई थी। पास रखा खाना थाली से ढंका था। कटोरी से ढके गिलास में पानी था और सुमित्रा के कपोलों पर बहकर सूख गए आंसुओं के निशान थे। माथे पर बड़ी-सी लाल बिन्दी और मांग में ढेर सारा सिन्दूर ···। बाबूजी चुपचाप उन आंसुओं के निशान, उस बिन्दी और उस सिन्दूर को देखते रहे। सुमित्रा का मुख इतना निर्दोष था कि बाबूजी की आंखें नम हो गईं।

तभी सुमित्रा चौंकी, उठ बैठीं। बाबूजी के पैरों से लिपट गईं— 'आ गए तुम···मैं तो समझी कि तुम पकड़ लिए गए···अब तुम्हें जेल होगी···और मैं और बिशन···तुम जानते हो मेरे तो मायके में भी कोई नहीं है।' सुमित्रा फूट-फूटकर रोने लगी थी।

बाबूजी ने सुमित्रा को गले से लगा लिया था। 'नहीं, ऐसा नहीं होगा, मैं तुम्हें बेसहारा नहीं छोड़ूंगा। देश के साथ मेरा तुम्हारे प्रति भी तो कर्तव्य है।'

सुमित्रा ने आंसू पोंछ लिए—'तो तुम सुराजियों का साथ छोड़ दोगे न, हमारी खातिर··· मेरी और बिशन की खातिर···'

बाबूजी कुछ क्षण चुप रहे—'हां, तुम्हारी और बिशन की खातिर··· खाना उठा दो, अब भूख नहीं है।' उस क्षण की याद आते आज भी बाबूजी के गले में कौर फंसने लगते हैं। और बाबूजी को लगता रहा है जैसे उन्होंने आत्मघात कर लिया हो। उनकी शिराओं में धधकती आग

भीतर ही भीतर धधककर उन्हें राख करती रही···

'बाबूजी···अजी जनाब नीचे तो आइए।' वह गम्भीर स्वर फिर गूंजा।

'हरिकिशन हैं! आ रहा हूं जी।'

बाबूजी ने खूंटी से कुरता उतारना चाहा। कुरता अटका, फट गया, पुराना हो चुका था। बाबूजी अपराधी-से खड़े रहे···अब! नया कुरता बनवाना ही पड़ेगा। कुछ दिन पहले जब सुमित्रा की साड़ी आंचल खींचते समय फट गई थी, तो बाबूजी ने मजाक किया था—'अरे भई, बिशन की मां, अब इस साड़ी को रिटायर कर दो, हमारी-तुम्हारी तरह बूढ़ी हो गई।'

सुमित्रा ने एक भरपूर नजर से उन्हें देखा—'पहले तुम अपने कुरते को रिटायर करो न।'

'हां, हां, कुरते और साड़ी दोनों को रिटायर कर देंगे' और बाबूजी हिसाब लगाने लगे थे। ढंग के दो कुरते और दो साड़ियों के लिए सौ रुपये तो चाहिए ही···अभी तो हो नहीं सकता, फिर देखा जाएगा। सोचते-सोचते थककर बाबूजी विवेकानन्द को पढ़ने लगे थे। विवेकानन्द को पढ़ते बाबूजी जैसे सारे त्रासों से मुक्त हो जाते हैं···। यज्ञ में आहुति न दे सकने का क्षोभ, किसी मौन प्रार्थना में रत हो जाता है। शिराओं में राख हो उठी आग में किसी ज्योति की चिनगारियां जागने लगती हैं···। और फिर सब कुछ ऐसे चुप हो जाता है जैसे फिर कोई सितारा टूट गया हो···। बाबूजी की कसकर मुंदी आंखों में सितारे टूटते ही रहे हैं।

बाबूजी ने फटे कुरते पर स्वेटर पहन लिया। मई के महीने में स्वेटर? हरिकिशन जरूर हंसेंगे। तो कह देंगे, जाड़ा-सा लग रहा था, शायद जूड़ी चढ़ेगी। सीढ़ी उतरते बाबूजी का शरीर सचमुच बर्फ-सा ठंडा हो गया था।

बैठक में वकील हरिकिशन तख्त पर बैठ गए थे···'आइए बाबूजी, ऊपर क्या साधना कर रहे थे? आप भी कमाल करते हैं। इतनी गर्मी में ऊपर क्या किया करते हैं? और यह स्वेटर···।' हरिकिशन ठठाकर

हंस पड़े, धीरे से बोले—'क्या कुरता फटा है ?'

बाबूजी झेंप गए। किन्तु सामने बैठे मित्र के सम्मुख हल्के भी हो गए। जी चाहा स्वेटर उतार दें, मित्र से लिपट जाएं, कहें—'दोस्त, अब तो सब कुछ फट चुका है···,' लेकिन बैठक में कोई भी आ सकता है। बाबूजी स्वेटर पहने ही तख्त पर बैठ गए—'हां, वकील साहब, आपने मुजरिम को ठीक पकड़ा, कुरता ही फटा है।' बाबूजी हंसने लगे थे।

हरिकिशन की आंखों ने पल-भर के लिए रंग बदला, कोई नमी-सी उनमें भलकी, फिर किसी अदृश्य समझौते के अन्तर्गत वे चुप हो गए।

'कहिए, किसी नतीजे पर पहुंचे आप विशन के बारे में ?' हरिकिशन पूछ रहे थे।

बाबूजी ने एक दीर्घ निश्वास ली—'किस नतीजे पर पहुंचा जा सकता है भाई, अगर हमारे जीवन के अर्थ ही अलग-अलग हों ?'

'लेकिन बाबूजी, आप दबते क्यों हैं। आखिर विशन आपका बेटा है और ये सारा आपका कमाया हुआ है। आप समझते हैं, विशन की समझ में आपकी बात आ जाएगी ? आप उसे ठेस पहुंचाने से डरते हैं और वो आपको जूते मार रहा है।' हरिकिशन उत्तेजित हो उठे।

बाबूजी ने आंखें भुका लीं।

'मेरे साहबजादे ने गड़बड़ की थी, तो साले को चुप कर दिया मैंने कि सिर्फ इतना मिलेगा···और ज्यादा गड़बड़ की तो इतना भी नहीं। सालों को पैदा करो, पालो-पोसो, इनपर जान खोरो, इसलिए कि ये हमारी जान के गाहक हो जाएं। बाबूजी, आपको भी जरा 'प्रैक्टिकल' होना चाहिए। आप हरएक के साथ न्याय क्यों करना चाहते हैं ?'

'पता नहीं, प्रैक्टिकल होना क्या होता है भाई, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता, सिवाय इसके कि 'न खुदा ही मिला न विसाले सनम···' न इधर के रहे न उधर के रहे···।' बाबूजी का स्वर जैसे किसी अतल गहराई से आ रहा था। हरिकिशन बाबूजी के 'डूबने' का अर्थ समझते थे।

'लेकिन, कोई फैसला तो होना ही चाहिए। विशन रोज मेरी जान खाता है।' हरिकिशन एकटक बाबूजी को देख रहे थे।

'तुम्हीं बताओ क्या फैसला हो सकता है···आदमी-आदमी के बीच अगर आदमियत की ही लड़ाई होने लगे तो क्या फैसला हो सकता है···?' बाबूजी ने आंखें मूंद ली थीं···। उन आंखों में कोई सितारा टूट रहा था।

हरिकिशन ने बाबूजी के कन्धे पर हाथ रखा था—'बाबूजी'···

'मेरे भाई,' बाबूजी ने हरिकिशन का दूसरा हाथ अपने हाथों में ले लिया—'मेरे बारे में चिन्ता न करो भाई···मेरी ज़िन्दगी का कोई अर्थ नहीं है। और लोग गृहस्थी तो चला लेते हैं···दुनिया के ढंग से कुछ हासिल भी कर लेते हैं, बाल-बच्चों को कुछ देते भी हैं···लेकिन मैं···' बाबूजी ने वाक्य अधूरा छोड़ दिया था।

हरिकिशन एकटक बाबूजी को देखते जा रहे थे···। वर्षों पूर्व के युवा बाबूजी उनकी आंखों में सजीव हो उठे थे···प्रभुदयाल गुप्ता ! एक कर्मठ युवक जो कुश्ती भी लड़ता था और अपनी पत्नी के प्रति समर्पित भी था···। 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद !' के नाम पर जिसकी आंखों में चिनगारियां भड़कने लगती थीं···। जो खादी का कुरता-धोती पहनता घर बनवा रहा था कि बीबी-बच्चों को सुरक्षा दी जा सके। धीरे-धीरे वह सारी लड़ाई कब पराजय में बदल गई···धीरे-धीरे वे सारी चिनगारियां कब राख हो गईं···। आज तो यह सामने बैठे बाबूजी किसी बियाबान में खड़े स्तूप-से दिखाई देते हैं, जिसके चारों ओर केवल धूल उड़ रही है···

'बाबूजी याद है ? उस दिन अखाड़े में मैं बेईमानी पर उतर आया था। मेरा और आपका जोड़ हो रहा था और सच बताऊं मैं समझता था, आप मुझे क्या पटकेंगे ? लेकिन बाप रे ! जब मैं आपके पेट में सिर अड़ाकर आपको गलत तरीके से चित करना चाह रहा था, आपने मेरी दोनों बांहें पकड़कर मुझे ऐसा चित किया था कि 'वाह गुरु, मान गए' मुझे कहना पड़ा था···। मैं तो अंडा-गोश्त सब खाता था, आप सिर्फ दूध पीते थे···। तो फिर वह शायद सुमित्रा भाभी के प्रति आपके प्रेम का प्रताप था कि आप अखाड़े में अच्छे-अच्छों को पटक देते थे···। एक नारी सदा ब्रह्मचारी···' हरिकिशन शरारत में हंसने लगे थे।

बाबूजी के झुर्रियों पड़े मुख पर भी एक मुस्कान बिखर गई, एक दंशित मुस्कान…जिसका अर्थ बाबूजी बता न पाते हों, हरिकिशन समझ लेते थे।

'तो चलूं, कोर्ट का समय हो गया।'

हरिकिशन उठ खड़े हुए। एक भरपूर नजर से बाबूजी को देखा, चले गए। दरवाजे पर देर तक खड़े बाबूजी उस रास्ते को देखते रहे जिधर से हरिकिशन गए थे…। वर्षों पूर्व का युवा हरिकिशन उन्हें भी याद आ गए थे…। अखाड़े में चित पड़े 'अब छोड़ो भी यार, मान गए'…कहते, होली और दीवाली पर आलिंगन-बद्ध होते…। बाबूजी की सारी लड़ाई के एकमात्र साक्षी…। अगर ये हरिकिशन न होते तो कोई साक्षी भी न होता…! बाबूजी ने बैठक का दरवाजा बन्द कर दिया। वे बहुत शिथिल हो गए थे, जैसे नये सिरे से हार गए हों। बैठक में अंधेरा-सा हो जाता है यदि दरवाजा बन्द कर दिया जाए तो…। उस अंधेरे में तख्त पर लेटे बाबूजी जाने कब तक उन टूटे सितारों को गिनते रहे जो एक-एक कर टूटते रहे थे…टूटते रहे थे…।

'तुम यहां हो, चलो, रोटी खा लो।' सुमित्रा बुला रही थी।

'चलो,' बाबूजी उठ खड़े हुए—'विनोद आ गया?'

'हां चलो, थाली पर बैठा है, भन्ना रहा है।' सुमित्रा रोटियां सेंकने लगी।

बाबूजी पटरे पर बैठ गए, देखा, विनोद उत्तेजित था—'क्या हुआ?' उन्होंने पूछा।

'होना क्या है…आपको तो एक तक से परहेज है और मैं कच्ची [illegible] पात खाकर डाक्टरी की पढ़ाई नहीं कर सकता। मां रोज बड़ी [illegible] रोटी बनाकर रख देती है…। रुपये दीजिए, आज से सब डाक्टरी [illegible] में ले लिया करूंगा।'

'अच्छा…' बाबूजी चूल्हे में जलती आग को लिहारते रहे [illegible] —'कुर्ते की जेब में पांच रुपये हैं, ले लो।'

विनोद पैर पटकता चला गया। सुमित्रा ने [illegible] पटकी, चीखती-सी बोली—'यह तुम क्यों [illegible]

डाक्टरी पढ़ रहा है तो क्या अहसान कर रहा है ?'

'हां, अहसान ही कर रहा है। शायद बिशन आ गया है, उसे बुला लो, गरम रोटी खा लेगा।' बाबूजी की आंखें चूल्हे पर जलती आग पर निबद्ध थीं···शायद कुछ नये सिरे से जल रहा था।

'बिशन, आ बेटा, तेरे बाबूजी बुला रहे हैं।' सुमित्रा का स्वर आहत था। बाबूजी ने देखा, सुमित्रा के मुख पर चमकती पसीने की बूंदों में अनेक आंसू थे। सुमित्रा ऐसे ही बाबूजी की चोटों पर से रो पड़ती हैं···। बाबूजी की लड़ाई का अर्थ उनकी समझ में नहीं आता।

बाबूजी ने अपनी थाली से गरम रोटी उठाकर बिशन की थाली में डाल दी थी। 'मुझे दूसरी दे देना।'

बिशन ने दो-चार कौर खाए, हाथ रोक लिया—'देखिए बाबूजी, अब ऐसे नहीं चलेगा। फैसला हो ही जाना चाहिए। आप कब तक बलिदान के नाम पर हमें मारते रहेंगे ?'

बिशन को शिकायत है कि बाबूजी ने उसका जीवन खराब कर दिया है। बाबूजी ने आगरे वाला मकान गायत्री बुआ को लिख दिया। माना कि वे विधवा हो गई थीं, तो बाबूजी के परिवार के साथ रह सकती थी···। अब वे वहां स्कूल चलाती हैं···क्या फायदा इस देश-सेवा से ? आजकल मकानों के किराये इतने बढ़े हुए हैं कि वह मकान अधिकार में होता तो दो-ढाई सौ किराया आता···। फिर जब सुचित्रा के लिए मिनिस्टर के यहां से रिश्ता आया तो बाबूजी अड़ गए···'मेरी बेटी वहां सुखी नहीं होगी···वे लोग मेरी बेटी को समझ नहीं सकेंगे···माना कि उनके पास बहुत पैसा है···लेकिन उनके पास सिर्फ पैसा ही है···सुची वहां सुखी नहीं होगी···।' फिर उन्होंने सुचित्रा का विवाह अपनी मरजी से एक साधारण घर में किया। हां, लड़का इंजीनियर था। कौन-सा विशेष सुख मिला भई सुचित्रा को ? मिनिस्टर के घराने से जुड़ने का जो एक दुर्लभ अवसर आया था, वह सदा के लिए समाप्त हो गया। यदि आज सुचित्रा का सम्बन्ध उस घर से हो जाता तो उसका भाई बिशनस्वरूप ज़रा-ज़रा-से परमिट के लिए जूतियां चटकाता न घूमता···। और उसपर से बाबूजी कहते हैं 'अरे भई, तुम्हारे पास इतना तो है।'

इनको दिखाई नहीं देना—'औरों के पास कितना है?' बाबूजी की बे-वकूफियों का अन्त नहीं'''। बिशन दांत पीसने लगता है।

जब बिशन ऐसे बकता-झकता है, बाबूजी की आंखों में सहज गायत्री आ खड़ी होती है'''। हां, गायत्री उनके परिवार के साथ रह सकती थी, एक अस्तित्व-हीनता को बामदी को ढोने। तब गायत्री के मुख पर सार्थकता की ज्योति न होती'''निरर्थकता के अंधेरे होते'''वैधव्य से अधिक वह अपनी मृत्यु को ढोती होती'''। लेकिन, आज वह छोटे-छोटे बच्चों की अध्यापिका गायत्री उनके सम्मुख होती है तो गायत्री से अधिक सार्थकता का बोध बाबूजी को होता है'''। छोटे-छोटे बच्चों के निर्दोष मुखों पर उभरते ज्ञान-बोध के साथ उनके मन में वही छोटे-छोटे लाल-पीले फूल खिल जाते हैं।'''ये लाल-पीले फूल चिरंजीवी हों!''' बाबूजी के हाथ एक प्रार्थना में जुड़ जाते हैं।

फिर बेटी सुचित्रा आ खड़ी होती है'''। बाबूजी के गले में झूलती सुची'''उनकी गोद में पलकर बड़ी हुई सुची'''। सुखी उस इंजीनियर वर के साथ सुखी है, यद्यपि अभी उनके पास स्कूटर भी नहीं है'''। बिशन सर पीटता है, सुचित्रा को इतना कुछ देने की क्या आवश्यकता थी! बीस हजार रुपयों से तो कोई नया बिजनेस शुरू किया जा सकता था। सुची की आंखों में इन्द्रधनुष देखते बाबूजी के हाथ फिर प्रार्थना में जुड़ जाते हैं—'सुची सुखी हो!'

'आज शाम तक कुछ तय हो जाना चाहिए, वरना मैं भी कसम खाता हूं कि मैं खाना-पीना छोड़ दूंगा।'

'तो छोड़ दे, हमारा खून तो पी ही रहा है।' सुमित्रा बोली।

'हमने आपका खून नहीं पिया, आपने हमारा पिया है'''' बिशन वैसे ही पैर पटकता चला गया जैसे कुछ देर पहले विनोद गया था।

बाबूजी उठ नहीं रहे थे। थाली में आधी रोटी वैसे ही पड़ी थी। सुमित्रा ने पानी का लोटा उठाकर चूल्हे में झोंक दिया, आंचल आंखों पर रखकर रोने लगी'''। लेकिन आज बाबूजी के पास उन्हें सान्त्वना देने के लिए कुछ नहीं था'''। बाबूजी अकिंचन हो उठे थे।

'रोओ मत बिशन की मां। चलो, हम सब कुछ छोड़-छाड़कर तीर्थ

करने निकल जाएं ।' बाबूजी सुमित्रा को अपलक देख रहे थे ।

'हां, हां, इन कपूतों को राजगद्दी देकर संन्यास ले लें'''काहे'''? तुम्हें दो बार तो दिल का दौरा पड़ चुका है, सूखकर ठठरी रह गए हो'''। अब दर-दर भटकोगे'''काहे ? यह घर तुमने बनवाया है'''यह जायदाद तुमने जोड़ी है'''और ये कमबख्त सगे बाप के लिए कहते घूम रहे हैं, बुड्ढा घाघ है'''। अरे काहे जने मैंने ये राक्षस'''' सुमित्रा फूट-फूटकर रोने लगी थीं ।

'बच्चों को गाली मत दो बिशन की मां, आखिर वे मेरे बेटे हैं'''!' ऐसे ही बाबूजी ने एक दिन किसीको तमाचा मारकर कहा था—'देश को गाली मत दो, यह मेरा देश है !' बाबूजी को याद आया, देश की मिट्टी से उनका सम्बन्ध जैसे एक पूजा था'''। किन्तु यह पूजा वे पूरी कर नहीं सके थे'''अब ये बेटे'''बिशन, किशन'''और विनोद'''उन्हींके अंश'''उनकी आत्मा के अंश'''। वे तो बेटों से भी अपने सम्बन्ध को पूजा की तरह ही लेते रहे । फिर यह पूजा भी खंडित क्यों हो गई'''कैसे हो गई'''? बाबूजी के सीने में दर्द की इतनी तेज़ लहर उठी कि लगा, प्राण ही निकल जाएंगे'''सामने चूल्हे में बुझी आग से धुआं उठ रहा था'''। और सुमित्रा घुटनों में सिर छिपाए रो रही थीं ।

बाबूजी ने चौक में खड़े होकर ज़ोर से कहा—'बिशन, शाम को वकील चाचा को बुलाते लाना'''मैं कागज़ तैयार कर लूंगा'''आज फैसला हो ही जाएगा'''

'हां-हां, ज़रूर बुलाता लाऊंगा'''आखिर वकील चाचा के बगैर फैसला कैसे हो सकता है ? आपके जोड़ीदार हैं न ?' बिशन ने भी चिल्लाकर ज़ोर से कहा । बिशन का बच्चा सुदीप दौड़ता आया और बाबूजी के घुटनों से लिपट गया । 'बाबा, कहानी सुनाओ'''पहले पैसा दो'''कुलफी वाला आया है ।'

बाबूजी ने सुदीप को गोद में लेकर चिपटा लिया । उनका कण्ठ रुंध गया था । वक्ष में एक ऐसा आलोड़न था, जिसे वे कभी शब्द नहीं दे सके थे'''। किन्तु जो आलोड़न जीवन-भर उनके वक्ष में, पथरीले तट पर टक्कर मारती लहरों-सा हाहाकार करता रहा था'''। उन्होंने सुदीप

को उतार दिया, दो रुपया देते बोले, 'जाओ, तुम सब कुल्फी खा लेना।'

पोते सुदीप या प्रदीप को सीने से चिपटाए बाबूजी को छोटे-छोटे विजन और किशन याद आ जाते हैं। विजन तो बचपन में माँ के बगैर रह लेता था, उनके बगैर नहीं रह पाता था···। 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के यज्ञ से उठ आए बाबूजी, विजन को सीने से चिपटाए किसी आहुति की सार्थकता ढूंढ़ा करते थे। 'मैं न सही, मेरे बेटे यज्ञ को पूरा करेंगे···' वे रोमांचित हो उठते थे। आज जब उनके बेटे किसी यज्ञ को आहुति देने लायक हो गए हैं, तो मन्त्रोच्चार के स्थान पर बाबूजी में भागमाग गालियां गूंजने लगी हैं···। वर्षों सजोये वे रोमांच पथराकर रह गए हैं। धुंधली आंखों से घण्टों दीवारों को देखते बाबूजी सोचा करते हैं, उस रोमांच का क्या अर्थ था···? उनकी जिन्दगी का ही क्या अर्थ है···?

सुदीप दौड़ता चला गया। बाबूजी लड़खड़ाते-से खड़े रहे···फिर धीरे-धीरे चलते बैठक में आए, तख्त पर लेट गए।

'बाबूजी, पांव दबाय दूं।' सिबिया पूछ रहा था। सिबिया, बारह-तेरह साल का अनाथ छोकरा, बाबूजी के परिवार में ही पल रहा था। उसका बाप भी बाबूजी के पास काम करता था। रघुनाथ ने मरते समय कहा था—'बाबूजी, अब आप ही इसके माई-बाप हैं।'

'तो क्या हुआ। मरते समय कोई कुछ कह गया तो आप जीवन-भर उसे निभाएंगे, वचन की तरह? जानते हैं, आज एक आदमी को खिलाने में कितना खर्च आता है? निकाल बाहर क्यों नहीं करते।' विजन चीखा करता है।

'बाबूजी, पांव दबाय दूं?' सिबिया ने फिर पूछा।

'क्यों रे, तूने रोटी खाई?' बाबूजी ने पूछा। सिबिया अपराधी सा हो उठा—'अभी नहीं, माल मूला, विजन भैया घने बावें न···'

बाबूजी तड़पकर उठ बैठे—'जा कमबख्त अपनी रोटी ला, मैं भी खाऊंगा···।' बाबूजी का टूटा स्वर एक दीर्घ हाहाकार की तरह गूंज गया···। गली की रौनक चढ़ आई थी। विजन, किशन, विनोद बाहर चले गए थे। उनकी बहुएं अपने-अपने कमरों में थीं। कुछ कमरों में बहुएं अपने-अपने बच्चों के साथ मस्त बतियाने लगी थीं। विजन,

किशन अभी मां के चौके में ही खाते थे। बीच के बड़े कमरे में बिशन और किशन के सात बच्चे उछल-कूद रहे थे। सुमित्रा रसोई के पास वाली कोठरी में मुंह ढांपे पड़ी थीं···। बाबूजी ने असह्य थकान से आंखें मूंद लीं। बियावान में खड़े स्तूप-सा बाबूजी का अकेलापन बहुत दीर्घ हो उठा था···। चारों ओर धूल ही धूल उड़ रही थी···।

उदास, बोझिल कदमों से बहुत धीरे-धीरे शाम आई। छः बजे के लगभग सब बैठक में जमा हो गए। बाबूजी और बिशन की मां। बिशन, किशन और विनोद। घूंघट काढ़े दोनों बहुएं। और वकील हरि-किशन।

'बिशन को शिकायत है कि मैंने जो चाहा किया है···मैंने काफी रुपया छिपाकर किशन को दे दिया है···मैंने गायत्री को मकान दिया है···मैंने सुची की शादी अपनी मर्जी से की है···मैंने शिबिया को पाला है···और किशन को शिकायत है कि मैंने पैसा दबा लिया है···हिसाब में गोलमाल किया है···बिशन मुझे घाघ कहता है···किशन मुझे 'फ्रॉड' कहता है···और विनोद, उसे भी शिकायत है कि मैं उसके साथ न्याय नहीं कर रहा···। सच क्या है ?···यह तो ईश्वर ही जाने···मुझे कोई दावा नहीं है कि मैं ठीक हूं, या अच्छा हूं···लेकिन जब बिशन और किशन कुत्तों की तरह लड़ने लगते हैं···जब घर की इज्ज़त सड़कों पर फेंक दी जाती है···जब पैसे लेकर सारे सम्बन्धों पर थूका जाता है···तो मेरी समझ में नहीं आता मैं क्या करूं···क्या करूं···' बाबूजी का कण्ठ भर्रा रहा था, किन्तु शब्द स्पष्ट थे।

'आप 'फ्रॉड' नहीं, 'हिपॉक्रैट' हैं···बलिदान के नाम पर हमारी हत्या करने वाले। क्या दिया है आपने हमें ? आप कहीं ज्यादा दे सकते थे। खैर, आपको न सही, मुझे तो अपने बच्चों का ख्याल है। मैं उनका भविष्य नहीं बिगाड़ सकता। सीधे-सीधे बंटवारा कर दीजिए कि हम अपनी जिन्दगी अपने हिसाब से जी सकें।' बिशन का स्वर पड़ोस तक जा रहा था।

'जी हां, भाई साहब ठीक कह रहे हैं।' किशन के स्वर में भाई के स्वर की प्रतिध्वनि थी। आंखों में भी भाई के भावों की प्रतिच्छवि।

विनोद दोनों के पीछे खड़ा होंठ चबा रहा था।

बिशन ने बी० ए० किया है। बिशन बी० काम है। विनोद डाक्टरी पढ़ रहा है। बाबूजी को ध्यान आया, वे तो सिर्फ मैट्रिक पास करके रह गए थे।

'ये लीजिए वकील भैया, मेरे पास जो कुछ था, मैंने उसे तीन भागों में बराबर बांट दिया है...हां, एक भाग मुन्नी को दे दिया है, एक बिशन की मां को भी...ताकि मैं न रहूं तो...' बाबूजी सहसा लेट गए।

'सीने में दर्द तो नहीं उठ आया?' हरिकिशन व्यग्र हो उठे।

'सीने में दर्द उठता नहीं, उठाया जाता है, हमें चुप कराने के लिए।' बिशन ने कठोरता से कहा।

बाबूजी ने कुरते के बटन खोल लिए—'जरा पंखा तेज कर दो भाई। सुमित्रा उनके पैरों के पास आकर बैठ गई थी, उनका सारा मुख आंसुओं से तरबतर था...

हरिकिशन बाबूजी का सीना सहलाने लगे थे।

'अम्मा को एक भाग क्यों? क्या वो भी हमारे साथ नहीं रह सकतीं? और मुन्नी को और क्यों? शादी कर देना काफी नहीं है...? मैंने कहा न, बाबूजी अपनी मक्कारी से बाज नहीं आएंगे...' बिशन चीखने लगा था।

हरिकिशन की आंखों में खून उतर आया। वे तड़प उठे कि उठकर बिशन को दो-चार तमाचे जड़ दें...। किन्तु बाबूजी के रक्तहीन मुख को देखकर वे किसी अदृश्य समझौते के अन्तर्गत चुप रह गए।...सहसा उन्हें लगा, तख्त पर बाबूजी नहीं, कोई ईसा मसीह पर...। उनकी आंखें नम हो आई थीं।

किशन अभी मां के चौके में ही खाते थे। बीच के बड़े कमरे में विशन और किशन के सात बच्चे उछल-कूद रहे थे। सुमित्रा रसोई के पास वाली कोठरी में मुंह ढांपे पड़ी थीं···। बाबूजी ने असह्य थकान से आंखें मूंद लीं। बियावान में खड़े स्तूप-सा बाबूजी का अकेलापन बहुत दीर्घ हो उठा था···। चारों ओर धूल ही धूल उड़ रही थी···।

उदास, बोझिल कदमों से बहुत धीरे-धीरे शाम आई। छः बजे के लगभग सब बैठक में जमा हो गए। बाबूजी और बिशन की मां। बिशन, किशन और विनोद। घूंघट काढ़े दोनों बहुएं। और वकील हरि-किशन।

'बिशन को शिकायत है कि मैंने जो चाहा किया है···मैंने काफी रुपया छिपाकर किशन को दे दिया है···मैंने गायत्री को मकान दिया है···मैंने सुधी की शादी अपनी मर्जी से की है···मैंने शिविया को पाला है···और किशन को शिकायत है कि मैंने पैसा दबा लिया है···हिसाब में गोलमाल किया है···बिशन मुझे घाघ कहता है···किशन मुझे 'फ्रॉड' कहता है···और विनोद, उसे भी शिकायत है कि मैं उसके साथ न्याय नहीं कर रहा···। सच क्या है ?···यह तो ईश्वर ही जाने···मुझे कोई दावा नहीं है कि मैं ठीक हूं, या अच्छा हूं···लेकिन जब बिशन और किशन कुत्तों की तरह लड़ने लगते हैं···जब घर की इज्ज़त सड़कों पर फेंक दी जाती है···जब पैसे लेकर सारे सम्बन्धों पर थूका जाता है···तो मेरी समझ में नहीं आता मैं क्या करूं···क्या करूं···' बाबूजी का कण्ठ भर्रा रहा था, किन्तु शब्द स्पष्ट थे।

'आप 'फ्रॉड' नहीं, 'हिपॉक्रैट' हैं···बलिदान के नाम पर हमारी हत्या करने वाले। क्या दिया है आपने हमें ? आप कहीं ज्यादा दे सकते थे। खैर, आपको न सही, मुझे तो अपने बच्चों का ख्याल है। मैं उनका भविष्य नहीं बिगाड़ सकता। सीधे-सीधे बंटवारा कर दीजिए कि हम अपनी जिन्दगी अपने हिसाब से जी सकें।' बिशन का स्वर पड़ोस तक जा रहा था।

'जी हां, भाई साहब ठीक कह रहे हैं।' किशन के स्वर में भाई के स्वर की प्रतिध्वनि थी। आंखों में भी भाई के भावों की प्रतिच्छवि।

विनोद दोनों के पीछे खड़ा होंठ चबा रहा था।

बिशन ने बी० ए० किया है। किशन बी० काम है। विनोद डाक्टरी पढ़ रहा है। बाबूजी को ध्यान आया, वे तो सिर्फ मैट्रिक पास करके रह गए थे।

'ये लीजिए वकील भैया, मेरे पास जो कुछ था, मैंने उसे तीन भागों में बराबर बांट दिया है'''हां, एक भाग मुन्नी को दे दिया है, एक बिशन की मां को भी'''ताकि मैं न रहूं तो''' बाबूजी सहसा लेट गए।

'सीने में दर्द तो नहीं उठ आया ?' हरिकिशन व्यग्र हो उठे।

'सीने में दर्द उठता नहीं, उठाया जाता है, हमें चुप कराने के लिए।' किशन ने कठोरता से कहा।

बाबूजी ने कुरते के बटन खोल लिए—'जरा पंखा तेज कर दो भाई। मुनिया उनके पैरों के पास आकर बैठ गई थी, उसका सारा मुख आंसुओं से तरबतर था'''

हरिकिशन बाबूजी का सीना सहलाने लगे थे।

'अम्मा को एक भाग क्यों ? क्या वो भी हमारे साथ नहीं रह सकती ? और मुन्नी को और क्यों ? शादी कर देना काफी नहीं है'''? मैंने कहा न, बाबूजी अपनी मक्कारी से बाज नहीं आएंगे''' बिशन चीखने लगा था।

हरिकिशन की आंखों में खून उतर आया। वे तड़प उठे कि उठकर बिशन को दो-चार तमाचे जड़ दें'''। किन्तु बाबूजी के रक्तहीन मुख को देखकर वे किसी अदृश्य समझौते के अन्तर्गत चुप रह गए।'''सहसा उन्हें लगा, तख्त पर बाबूजी नहीं, कोई ईसा सलीब पर'''! उनकी आंखें नम हो आई थीं।

किशन अभी मां के चौके में ही खाते थे। बीच के बड़े कमरे में बिशन और किशन के सात बच्चे उछल-कूद रहे थे। सुमित्रा रसोई के पास वाली कोठरी में मुंह ढांपे पड़ी थीं···। बाबूजी ने असह्य थकान से आंखें मूंद लीं। बियावान में खड़े स्तूप-सा बाबूजी का अकेलापन बहुत दीर्घ हो उठा था···। चारों ओर धूल ही धूल उड़ रही थी···।

उदास, बोझिल कदमों से बहुत धीरे-धीरे शाम आई। छः बजे के लगभग सब बैठक में जमा हो गए। बाबूजी और बिशन की मां। बिशन, किशन और विनोद। घूंघट काढ़े दोनों बहुएं। और वकील हरि-किशन।

'बिशन को शिकायत है कि मैंने जो चाहा किया है···मैंने काफी रुपया छिपाकर किशन को दे दिया है···मैंने गायत्री को मकान दिया है ···मैंने सुची की शादी अपनी मर्जी से की है···मैंने शिबिया को पाला है ···और किशन को शिकायत है कि मैंने पैसा दबा लिया है···हिसाब में गोलमाल किया है···बिशन मुझे घाघ कहता है···किशन मुझे 'फ्रॉड' कहता है···और विनोद, उसे भी शिकायत है कि मैं उसके साथ न्याय नहीं कर रहा···। सच क्या है ?···यह तो ईश्वर ही जाने···मुझे कोई दावा नहीं है कि मैं ठीक हूं, या अच्छा हूं···लेकिन जब बिशन और किशन कुत्तों की तरह लड़ने लगते हैं···जब घर की इज्ज़त सड़कों पर फेंक दी जाती है···जब पैसे लेकर सारे सम्बन्धों पर थूका जाता है···तो मेरी समझ में नहीं आता मैं क्या करूं···क्या करूं···' बाबूजी का कण्ठ भर्रा रहा था, किन्तु शब्द स्पष्ट थे।

'आप 'फ्रॉड' नहीं, 'हिपॉक्रैट' हैं···बलिदान के नाम पर हमारी हत्या करने वाले। क्या दिया है आपने हमें ? आप कहीं ज़्यादा दे सकते थे। खैर, आपको न सही, मुझे तो अपने बच्चों का ख्याल है। मैं उनका भविष्य नहीं बिगाड़ सकता। सीधे-सीधे बंटवारा कर दीजिए कि हम अपनी जिन्दगी अपने हिसाब से जी सकें।' बिशन का स्वर पड़ोस तक जा रहा था।

'जी हां, भाई साहब ठीक कह रहे हैं।' किशन के स्वर में भाई के स्वर की प्रतिध्वनि थी। आंखों में भी भाई के भावों की प्रतिच्छवि।

विनोद दोनों के पीछे खड़ा होंठ चबा रहा था।

विमल ने बी० ए० किया है। विमल बी० काम है। विनोद डाक्टरी पढ़ रहा है। बाबूजी को ध्यान आया, वे तो सिर्फ मैट्रिक पास करके रह गए थे।

'ये लीजिए वकील भैया, मेरे पास जो कुछ था, मैंने उसे तीन भागों में बराबर बांट दिया है···हां, एक भाग सुधी को दे दिया है, एक विमल की मां को भी···ताकि मैं न रहूं तो···' बाबूजी सहसा लेट गए।

'सीने में दर्द तो नहीं उठ आया ?' हरिकिशन व्यग्र हो उठे।

'सीने में दर्द उठता नहीं, उठाया जाता है, हमें चुप कराने के लिए।' विमल ने कठोरता से कहा।

बाबूजी ने कुरते के बटन खोल लिए—'जरा पंखा तेज कर दो भाई।' सुमित्रा उनके पैरों के पास आकर बैठ गई थी, उसका सारा मुख आंसुओं से तरबतर था···

हरिकिशन बाबूजी का सीना सहलाने लगे थे।

'अम्मा को एक भाग क्यों ? क्या वो भी हमारे साथ नहीं रह सकती ? और सुधी को और क्यों ? शादी कर देना काफी नहीं है···? मैंने कहा न, बाबूजी अपनी मक्कारी से बाज नहीं आएंगे···' विमल चीखने लगा था।

हरिकिशन की आंखों में खून उतर आया। वे तड़प उठे कि उठकर विमल को दो-चार तमाचे जड़ दें···। किन्तु बाबूजी के रक्तहीन मुख को देखकर वे किसी अदृश्य समझौते के अन्तर्गत चुप रह गए।···सहसा उन्हें लगा, तख्त पर बाबूजी नहीं, कोई ईसा सलीब पर···। उनकी आंखें नम हो आई थीं।